"...give me thy inner beauty, Mother–the purity of the spirit!"

Walking across a field, six-year old Gadadhar Chattopadhyaya beheld a vision of exquisite beauty: a flight of snow-white cranes traced against a great black cloud. He went into ecstasy and fell unconscious. From then on this highly sensitive child went through a series of spiritual experiences, studied deeply the holy books of all faiths and was initiated into the true Vedic "dharma" by sage Totapuri who also named him Ramakrishna Paramahamsa. Ramakrishna was love incarnate: he loved the world, the universe—everyone of God's creatures. Saints like Ramakrishna Paramahamsa are gifted with universal love and compassion. To them, even inanimate objects become alive with God! They serve God through His creation—a service born of the conviction that the entire Universe is filled with God! Sainthood is a universal phenomenon.

प्राचीन-अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञानको प्रतिनिधि
पुरुषार्थ-प्रतिपादक
प्रसन्न-गम्भीर
चिन्तामणि
वर्ष १६ । अङ्क २
वार्षिक मूल्य : आठ रुपये मात्र
एक प्रति : दो रुपया पचास पैसा
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट
संस्थापक: अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज
सम्पादक
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
फोन : ६२६८३
व्यवस्थापक
सत्साहित्य-प्रकाशन-ट्रस्ट
'विपुल', २८/१६, बी० जी० खेर मार्ग
बम्बई–४००००६
वर्ष १६ : अङ्क २

चिन्तामणि
विनयक्रम

English

भागवत-दर्शन

श्रीमद्भागवत महापुराण

[दो खण्डों में]

२० × ३० अठपेजी साइजमें
मोटे मैपलीथो कागजपर
मूल्य—२०० = ०० रुपये

- परम पूज्य अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराजके श्रीमद्भागवत महापुराणके पाक्षिक प्रवचनोंका यह अनुपम संकलन अत्यन्त श्रमपूर्वक किया गया है।
- इसकी प्रतीक्षा पाठकोंको बहुत दिनोंसे थी जो अब प्रकाशित हो सका है।
- कृपया अपनी प्रतिके लिए सम्पर्क करें।
- इसमें छूट केवल ट्रस्टके संरक्षक, आजीवन, मानद सदस्योंको मिलती है।

व्यवस्थापक
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल' २८/१६ बी. जी. खेर मार्ग
बम्बई—४०० ००६

विमर्शनीयशांकरभाष्य : एक चिन्तन

विरक्तशिरोमणि श्रीवामदेवजी महाराज

प्रथम असंगति (घ)

विवर्तवादकी आधारभूता विद्यानिवर्त्य अविद्याको जगत्का उपादान (कारण) कहनेवाला एक भी वचन उस प्रस्थानत्रयीमें नहीं मिलता, जिसपर आचार्यने भाष्य लिखकर जगत्को आविद्यक माना है। इतना ही नहीं सर्वज्ञ आचार्यने स्वसिद्धान्त-आधारभूता जगत्-उपादान अविद्याके बारेमें किसी लुप्त या अलुप्त श्रुतिका भी प्रमाणरूपसे उल्लेख नहीं किया। ईशावास्य ९; मुण्डक, १.२.८.९, कठ १.२.४-५, श्वेताश्वतर ५.१, बृहदारण्यक ४.३.२० तथा ४.४.३-४ इतने श्रुति मन्त्रोंमें अविद्या पदका प्रयोग हुआ है। किन्तु कहीं भी जगत्के उपादान रूपमें अविद्या पदका प्रयोग नहीं हुआ और न आचार्यने ही वैसी व्याख्या की है। जगत् उपादान रूपमें अविद्या पदका प्रयोग किसी प्रामाणिक श्रुतिमें मिल भी जाये तो भी यह विचारणीय होगा कि उसका अर्थ विद्या-निवर्त्य अविद्या ही है या वह अन्य किसी अर्थमें प्रयुक्त है, जैसे कि—ईशावास्य ९.१.११ में कर्मके अर्थमें भी अविद्या पदका प्रयोग है।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते इत्यादि ज्ञानसे मोक्षका कथन करनेवाली श्रुतियोंसे केवल बन्धनकी ही अज्ञानजन्यता सिद्ध होती है, शरीरादि जगत् पदार्थोंकी नहीं। दूसरी बात यह भी है—ज्ञान पद भक्तिके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है, ऐसा आचार्यने स्वयं स्वीकार किया है। तथाहि ४.१.१ सूत्रभाष्ये-विद्युपास्त्योश्च वेदान्तेषु अव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते। क्वचित् विदिनोपक्रम्योपासिनोप-संहरति, यथा यस्तद्वेद यत्स वेदमयैतदुक्तः (छा० ४.१.४) इत्यत्र, अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्ये (छा० ४.२.२) इति, 'क्वचिच्चो-पासिनोपक्रम्य विदिनोपसंहरति, यथा मनो ब्रह्मेत्युपासीत (छा० ३.१८.१) इत्यत्र, भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद। (छा० ३.१८.३)

इन सब विचारोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानसे मोक्ष प्रतिपादक श्रुतियोंकी अन्यथा अनुपपत्तिसे विद्या-निवर्त्य अविद्या जगत्का उपादान कारण सिद्ध नहीं होती। यदि कहें कि श्रुतियोंका तात्पर्य निर्विशेषके प्रतिपादनमें है,

निर्विशेष ब्रह्ममें सविशेष जगत्की कारणता अविद्या विना नहीं हो सकती। इस प्रकार श्रुति तात्पर्यान्यथा अनुपपत्तिसे अविद्या जगत्का उपादान सिद्ध हो जाती है। इस कथनपर ये विचार उपस्थित होते हैं।

अधिकतर श्रुतियाँ जगत्कारण व्यवस्थापक अन्तर्यामी नियन्तारूपमें सविशेष ब्रह्मका ही विधेयात्मक शब्दों द्वारा प्रतिपादन करती हैं। केवल कठ १.३.१५, प्रश्न ५.७, मुण्डक १.१.६ तथा २.१.२ माण्डूक्य ७ तथा १२ श्वेताश्वतर ३.१९, ६.१९ बृहदारण्यक ३.५.१ तथा ३.९.३६ इतनी श्रुतियाँ निषेधात्मक शब्दों द्वारा निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं। इन श्रुतियोंमें भी प्रायः एक-दो पद विधेयात्मक हैं ही। बृहदारण्यक ३.८.८ अस्थूलमनण्डं इत्यादि यह एक मन्त्र ही ऐसा है कि जिसमें एक भी पद विधेयात्मक नहीं। किन्तु इस मन्त्रमें कथित ब्रह्मको लक्ष्य करके आगेके बृहदारण्यक ३.८.९ मन्त्रमें कहते हैं कि—एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, इससे स्पष्ट हो जाता है कि अस्थूलं इत्यादिक निषेधात्मक पदों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म प्रशासक गुणयुक्त भी है। इस प्रकार पूर्व प्रकरणके अनुसार तथा उत्तर मन्त्रके अनुसार विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि अस्थूलं इत्यादि निषेधात्मक पदों द्वारा भी प्रशासक गुणयुक्त सविशेष ब्रह्मका ही प्रतिपादन श्रुतिने किया है।

उपर्युक्त कथित कारणोंसे सन्देह होता है कि जगत् अविद्यावाद तथा निर्विशेष ब्रह्मवाद श्रुति प्रतिपाद्य है या नहीं। श्रुति सूत्र-भाष्यके मर्मज्ञ विद्वानोंसे करबद्ध विनम्र प्रार्थना है कि उक्त शंकाओंका सहेतुक सप्रमाण निराकरण करके श्रुति-सूत्रोंकी शांकरमतमें सहेतुक सप्रमाण संगति लिखनेकी कृपा करें।

असंगति परिहार

शब्दकी ऐसी महिमा है कि उसको अपने प्रतिपाद्य अर्थके वाचक वचनकी आवश्यकता नहीं होती! अपितु जिसमें उसका तात्पर्य होता है, वही उसका प्रतिपाद्य अर्थ होता है। जैसे अपने शत्रु-गृहमें भोजन करते हुए अपने पुत्रको देखकर पिता पुत्रसे कहता है 'विषं भुङ्क्ष्व' (विष खा ले)। परन्तु इस वाक्यका अर्थ है कि शत्रुके गृहमें भोजन मत किया करो। पिताके वाक्यमें भोजन निषेधक कोई पद न होनेपर भी उसका अर्थ शत्रुगृहमें भोजनकी निवृत्ति है। उसी प्रकार प्रस्थान त्रयीमें प्रपञ्चका उपादान कारण अविद्या है, ऐसा कोई वचन न होनेपर भी यदि पूर्वापर वाक्योंका विचार करनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि प्रपञ्चका उपादान कारण अविद्या है, तब यही मानना उचित है कि प्रस्थानत्रयी प्रपञ्चका उपादान कारण अविद्याको ही बोधन करती है। अतएव भाष्यकार अन्य श्रुति

प्रमाणमें दें या नहीं, हरदशामें यह मानना ही पड़ेगा कि प्रस्थानत्रयी प्रपञ्चका उपादान कारण अविद्या बता रही है।

ईशावास्य उपनिषद्में अविद्या शब्दका अर्थ कर्म किया है। परन्तु भाष्य-कारने अविद्या शब्दका अर्थ कर्म क्यों किया? आनन्द स्वरूप आत्माके अज्ञानसे ही यह भ्रम होता है कि मुझे आनन्दकी आवश्यकता है, दुःख मुझमें न आने पावे। यदि आनन्दघन मैं हूँ ऐसा ज्ञान हो तो आनन्दका अभाव नहीं, दुःखका संश्लेष नहीं, ऐसी दशामें मुझे सुख मिले, दुःख न आवे, इस प्रकारकी सुख विषयक इच्छा तथा दुःख-विषयक-द्वेष नहीं होगा। जब सुखकी इच्छा तथा दुःखमें द्वेष होगा तो भ्रमसे जो सुखका साधन समझ रक्खा है, उस विषयक राग, इच्छा तथा प्रवृत्ति भी नहीं होगी। उसी प्रकार जो दुःखके साधन हैं, उनमें द्वेष तथा निवृत्ति भी नहीं होगी। भाव यह है कि सुखके साधन शुभाशुम-विषयक प्रकृतिसे भी पाप-पुण्य होते हैं। सारांश यह है कि आनन्दघन आत्माके अज्ञानसे पाप-पुण्य कर्म होते हैं। अतएव प्रसङ्गानुसार अविद्या कर्मका कारण होनेसे अविद्या शब्दका अर्थ कर्म-बोधन किया है। गोभिः श्रृणीत इस श्रुति वाक्यका अर्थ किया कि गोदुग्धसे पकावे। यहाँ गो शब्दका अर्थ गौ न करके गौका कार्य जो उसका दुग्ध है, वही अर्थ किया है। इस श्रुतिमें कार्य (दुग्ध)के बोधनके लिए जैसे कारणके वाचक 'गो' शब्दका प्रयोग किया है, उसी प्रकार ईशावास्यमें राग-द्वेष द्वारा अविद्याका कार्य कर्म है, उसके बोधनके लिए अविद्याके अभिधायक अविद्या शब्दका प्रयोग किया है। वेदान्तकी प्रक्रियानुसार विचार करनेपर ईशावास्यका अविद्या शब्द मूलाविद्याको अभिधावृत्तिसे बोधन करता हुआ लक्षणासे कर्मका बोधन करता है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि ईशावास्यादि उपनिषदोंमें आगत अविद्या शब्द, मूलाज्ञानका बोधन नहीं करता किन्तु अभिधावृत्तिसे मूलाविद्याका बोधन करता हुआ, प्रसङ्गानुसार अन्यार्थका लक्षक है। पुनरपि यह आकांक्षा शेष रह जाती है कि ईशावास्यादिमें आया अविद्या शब्द अविद्याको जगत्का उपादान नहीं कहता, तब .अविद्याको जगत्का उपादान कारण कैसे माना जाय। इसका उत्तर यही है कि अविद्या जगत्का उपादान कारण है, यह प्रस्थान त्रयीके विचारसे सिद्ध होता है।

प्रस्थानोंका विस्तृत विवेचन तो भाष्यादिसे जानना उचित है। हम यहाँ 'स्थाली पुलाकन्याय'से सामान्य रूपसे विवेचन करते हैं। 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते। गी० ५.१०। गीताके इस श्लोकका भाष्यकार अर्थ करते हैं कुरु (करो)। इस प्रकार किसी

प्राणीका कर्तृत्व तथा अभिलषित घटादि पदार्थों और कर्मोंके फल सुख-दुःखके सम्बन्धकी रचना प्रभु नहीं करते। यह आशङ्का होनेपर प्रभु शब्दका अर्थ आत्मा तथा परमात्मा सम्भव है। यदि दोनोंमें-से कोई कर्तृत्व, अभिलषित पदार्थ और कर्मके फलका सम्बन्ध नहीं बनाता तो यह सर्व कैसे अनुभवमें आरहा है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि स्वभावस्तु प्रवर्तते स्वोभावोऽविद्यालक्षणा प्रकृतिर्मामा प्रवर्तते। दैवीह्येषा गुणमयीत्यादिना वक्ष्यमाणा। स्वभाव (अविद्यारूप प्रकृति) ही कर्तृत्व, अभिलषित पदार्थ और कर्मफल संयोगको करती हुई प्रवृत्त होती है जो कि 'दैवी ह्येषा' इत्यादि श्लोकसे आगे अध्यायमें कही जानेवाली है। इस श्लोकसे अज्ञान ही सर्वपदार्थ और कर्तृत्वादि धर्मोंको रचता है, ऐसा सिद्ध होनेसे अज्ञान, संसारका उपादान कारण सिद्ध होता है।

उपनिषदोंमें-से सर्व प्रथम उपनिषत् ईशावास्य है। उसका प्रथम मन्त्र है ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ इसपर भी विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि संसार अज्ञानका कार्य है। इस मन्त्रमें कहा गया है कि ईश्वरसे सर्व जड़चेतन जगत् आच्छादनीय है। परन्तु ईश्वर वस्त्र या पिटारीकी तरह तो नहीं। यदि ऐसा होता तो व्यापक ईश्वरसे यह आच्छादित रहता ही, पुनः उससे जगत्के आच्छादन करनेका उपदेश ही सम्भव नहीं था। अतः जिस प्रकार ज्ञानरज्जुसे सर्पका आच्छादन हो जाता है, अर्थात् रज्जुसे भिन्न सर्पकी सत्ता नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञात सच्चिदानन्द परमात्मासे अतिरिक्त संसारकी सत्ता नहीं है, ऐसा जान लेना चाहिए। यह भावार्थ है। ज्ञात परमात्मासे अतिरिक्त संसारकी सत्ताका अभाव तब ही सम्भव है, जब कि अज्ञात परमात्मासे संसारकी सत्ता हो। जैसे अज्ञात रज्जुसे सर्पकी सत्ता है तो ज्ञात रज्जुसे अतिरिक्त सर्पकी सत्ता नहीं है। अज्ञात परमात्मासे संसारकी सत्ता है, इसका भाव यही है कि परमात्मके अज्ञानसे ही संसारकी प्रतीति या सत्ता है। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि संसारकी सिद्धि अज्ञानसे है। अज्ञान ही संसारका कारण है। जो ऐसा व्याख्यान करते हैं कि 'ईशस्य आवास्य' = ईश्वरसे प्रविष्ट जगत् है। वह उचित नहीं है क्योंकि ऐसा अर्थ करनेके लिए 'ईशावास्यम्' यह एक समस्त पद मानना पड़ेगा, तब ही 'ईशस्य आवास्यम्' ऐसा विग्रहकर ईश्वर-प्रविष्ट अर्थ किया जा सकता है। परन्तु समस्त पद मानकर उपर्युक्त अर्थ करना उचित नहीं है, क्योंकि वेद-मन्त्रके पद-पाठवेत्ता पुरुष 'ईशा' ऐसा एक भिन्न पद तथा 'वास्य' ऐसा दूसरा पद मानकर पाठ करते हैं। सारांश यह है कि पूर्वोक्त

प्रकारसे श्रुतिपर विचार करनेसे परमात्माके अज्ञानसे ही संसारकी सृष्टि सिद्ध होती है।

व्याससूत्रोंपर भी विचार करनेसे सिद्ध होता है कि जगत् न सत् है, न असत् है, न सदसद्रूप ही है। सद्-असत्से विलक्षण मिथ्या है। जो मिथ्या है वह अज्ञानका कार्य ही होता है। असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः। सत्की उत्पत्ति असम्भव है, क्योंकि उपपन्न नहीं है। संसारकी उत्पत्ति होती है। अतः संसार सत् नहीं है। इस उपर्युक्त सूत्रमें संसारको सत्से विलक्षण कहा। 'नाभाव उपलब्धेः' संसारका बन्ध्यापुत्रादिकी तरह सर्वथा अभाव नहीं है, क्योंकि बन्ध्यापुत्रादि असत् पदार्थोंकी उपलब्धि (प्रतीति) नहीं होती, संसारकी प्रतीति होती है। इस सूत्रमें संसारकी उपलब्धि होनेसे असत्से विलक्षण कहा है। 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' एक धर्मिभूत वस्तुमें सत्त्व, असत्त्वादि परस्पर विरुद्धधर्म, नहीं हो सकते। क्योंकि एक धर्मीमें एक कालमें परस्पर विरुद्धधर्म सम्भव नहीं हैं। अतः संसारमें सत्त्व-असत्त्व ये दोनों धर्म न होनेसे वह सत्-असत्से भी विलक्षण है। सत्से विलक्षण, असत्से विलक्षण, सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण यह संसार, सूत्रोंपर विचार करनेसे रज्जु-सर्पकी तरह मिथ्या होता है। जो मिथ्या होता है, वह रज्जु-सर्पकी तरह अज्ञानजनित माया मात्र होता है। अतएव माया मात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्—इस सूत्रमें स्वप्नके पदार्थोंकी उत्पत्तिके योग्य देश, कालादि निमित्त न होनेसे तथा बाध होनेसे स्वप्नको माया मात्र कहा है। तथा आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि—इस सूत्रमें आत्मामें स्वप्नकी तरह परमात्मामें जगत्सृष्टि कही है। इससे संसार मिथ्या मायामात्र (अज्ञान-जनित) सिद्ध होता है। कहनेका भाव यह है कि गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र, इस प्रस्थानत्रयीमें भले ही स्पष्टतया 'अज्ञान संसारका कारण है' ऐसा वाक्य नहीं है फिर भी प्रस्थानत्रयीपर विचार करनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि संसारका उपादान कारण अज्ञान है।

ज्ञानसे मोक्ष कथन करनेवाली श्रुतियोंसे अर्थापत्तिके द्वारा बन्धन अज्ञान-सिद्ध है ऐसा सिद्ध होता है। दुखदायी होनेके कारण ही बन्धनको बन्ध कहा जाता है। 'दुःखालयमशाश्वतम्' तो इस भगवद्वाक्य तथा मनीषियोंके अनुसार यह संसार दुःखदाता है, अतएव कारण अज्ञानके सहित संसार ही बन्धन है। यदि श्रुतियोंसे बन्धनकी अज्ञान-जन्यतासे सिद्ध होती है और बन्धन समूल संसार ही है, तब श्रुतियोंसे कारणभूत अज्ञानजन्यता सिद्ध हो जाती है, ऐसी दशामें यह कहना कि वे ज्ञानसे मोक्ष-कथन करनेवाली श्रुतियोंसे केवल बन्धनकी ही

अज्ञानजन्यता सिद्ध होती है, शरीरादि जगत् पदार्थोंकी नहीं।' केवल अविचार रमणीय ही है। परमात्मामें परम प्रेमरूप भक्ति जो कि नारददादिकोंको अभिमत है, तादृश भक्तिके अर्थमें ज्ञान पद प्रयुक्त हुआ है, ऐसा शंकराचार्यजीने अपने भाष्यमें कहीं भी सिद्ध नहीं किया।

विद्युपास्त्योश्च वेदान्तेषु अव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते। इत्यादि भाष्यको देखकर जो यह कहते हैं कि विद्या = ज्ञान, उपास्ति = भक्ति है तथा वे एक ही अर्थके वाचक हैं। ऐसा समझना भूल है। क्योंकि यहाँ प्रसंगवशात् भाष्यकार, विद्या शब्दसे निदिध्यासन तथा वैदिक उपासनाको उपासना शब्दसे ग्रहण करते हैं तथा यह सिद्ध कर रहे हैं कि निदिध्यासन (ध्यान) और उपासना इन दोनोंमें प्रत्ययावृत्ति होती है। उसमें उपासनामें लौकिक उदाहरण देते हैं 'गुरुकी उपासना करता है, ऐसे एक बार कहनेपर भी यह सिद्ध होता है कि एक दिन नहीं किन्तु नित्य ही गुरुका अनुवर्तन करता है; ऐसा अर्थ सिद्ध होता है। उसी प्रकार परदेश गये पतिवाली पत्नी, पतिका ध्यान करती है। ऐसा उसी पत्नीके लिए कहा जाता है जो उत्कण्ठाके सहित पतिका निरन्तर स्मरण करती है। भावार्थ यह है कि—उपासना शब्दके साथ विद् धातुका प्रयोग, निदिध्यासन (ध्यान) तथा उपासनाकी समानताके कारण किया जाता है। वह समानता है आवृत्ति गुण। उपासना तथा निदिध्यासन इन दोनोंमें आवृत्ति गुण होता है। अतः निदिध्यासितव्यः इस एक बारके प्रयोगसे भी निदिध्यासनकी आवृत्ति सिद्ध होती है। उसी प्रकार श्रवण, मननकी आवृत्ति, अनेक बारके उपदेशसे सूचित होती है। विद्युपास्त्योः यह भाष्यवाक्य विद्या (ज्ञान) तथा उपासनाकी एकता सिद्ध नहीं करता। न ज्ञान पदका भक्तिके अर्थमें ही प्रयोग सिद्ध करता है। अपितु विद् धातु तथा उपपूर्वक आस धातुका समान प्रयोग सिद्ध करता है। विद्के साथ इकार तथा उपपूर्वक धातुके अन्तमें 'ति'का प्रयोग इन दोनोंका धातुत्व बोधन कर रहा है। अतः विदि तथा उपास्ति इन दोनों धातुओंका समान रूपसे प्रयोग होता है। ऐसा भाष्यकार कह रहे हैं।

यहाँ भाष्यके द्वारा 'विदि' शब्दसे निदिध्यासन अभिमत है, यह कैसे जाना? इसपर कहना यह है कि विद्युपास्त्योः इत्यादि भाष्यसे पूर्वमें भाष्यकारने यह प्रसंग इस प्रकार प्रारम्भ किया है अपि चोपासनं निदिध्यासनं चेत्यन्तर्णीतावृत्तिगुणैव क्रियाऽभिधीयते उपासना तथा निदिध्यासन दोनों अन्तर्निहित आवृत्ति गुणवाले हैं। जब प्रसंगके प्रारम्भमें उपासना तथा निदिध्यासन कहे हैं तो मध्यमें भी 'विदि' तथा 'उपास्ति' शब्दोंसे उन्हींका वर्णन है तथा लौकिक दृष्टान्त जो

हमने ऊपर दिये हैं, वे भी उपासन तथा निदिध्यासन (ध्यान) विषयक ही दिये। वृहदारण्यक उपनिषद्‌में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयीके संवादमें कहा है कि—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितं भवति इस वाक्यका अर्थ है, हे मैत्रेयी! आत्मा ही दर्शनके योग्य है। आत्म-दर्शनका क्या उपाय है? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहा कि आत्माका ही श्रवण करना चाहिए, आत्माका ही मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए। इसका क्या फल होगा, तब कहा कि आत्माके श्रवण, मनन तथा ज्ञान होनेपर यह सारा संसार ज्ञात हो जाता है। वाक्यके पूर्वार्धमें कहा कि आत्माका श्रवण-मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए। उत्तरार्धमें कहा कि आत्माके श्रवण, मनन तथा ज्ञान होनेपर सर्वविदित हो जाता है। उत्तरार्धमें ज्ञान होनेके स्थानमें पूर्वार्धमें निदिध्यासन करना लिखा है, जिससे यह सिद्ध होता है, श्रुति निदिध्यासनके स्थानमें ज्ञानका प्रयोग करती है। अतः श्रुतिमें निदिध्यासनके स्थानमें ज्ञानका प्रयोग करनेसे तथा भाष्यमें उपासन तथा निदिध्यासनसे प्रसंगका प्रारम्भ करनेसे विदि शब्दसे निदिध्यासन अभिमत है। न कि परम प्रेमरूपा भक्ति!

इन सर्व विचारोंसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानसे मोक्ष-प्रतिपादक श्रुतियोंकी अन्यथा अनुपपत्तिसे विद्या-निवर्त्य अविद्या जगत्‌का उपादान कारण है। श्रुतियोंका तात्पर्य निर्विशेष ब्रह्मके प्रतिपादनमें है। निर्विशेष ब्रह्ममें सविशेषतारूप कारणता अविद्या बिना नहीं प्रतीत हो सकती। यद्यपि श्रुतियोंमें ब्रह्मको जगत्‌का कारण कहा है। परन्तु जगत्कारणतामें श्रुतिका तात्पर्य नहीं अपितु कारणसे अतिरिक्त कार्य नहीं, इस प्रकार अद्वैतमें ही उसका तात्पर्य है। अथवा नेह नानास्ति किञ्चन इस श्रुतिने नाना जगत्‌का ब्रह्ममें निषेध किया है, उस निषेधके विषय अर्थात् निषेध्यका समर्पण ही उत्पत्ति श्रुतियोंका अभिप्राय है। न तस्य कार्यं करणं च विद्यते इत्यादिक श्रुतियाँ ब्रह्मका कार्य या करणका निषेध करती हैं। तथा साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च—यह श्रुति ब्रह्ममें सर्वगुणोंका तथा च शब्दसे गुणोंसे अतिरिक्त अन्य धर्मों, अन्तर्यामित्वादिकोंका भी निषेध करती है। ब्रह्ममें अस्थूलता नानात्व गुण, धर्म, क्रियादिक सर्व विशेष एवं उनका अभाव समान सत्तावाला नहीं हो सकता। अतः एकको न्यूनसत्ता माननी होगी। निर्विशेषता अन्य निरपेक्ष होनेसे स्वाभाविक है। सविशेषता अन्य सापेक्ष होनेसे औपाधिक है। उपाधि, अविद्याका कार्य होनेसे मिथ्या (न्यून सत्ताक) है। अतः सविशेषता, औपाधिक आविद्यक (मायिक) तथा परमार्थ सत्ताक नहीं हैं। यही

सिद्ध होता है। यद्यपि ब्रह्मकी सविशेषता कहनेवाली श्रुतियाँ अधिक हैं, निर्विशेषताको कहनेवाली श्रुतियाँ न्यून संख्यामें हैं। तथापि अधिक संख्यावाले सैनिकोंकी तरह अधिक संख्यक, सविशेष श्रुतियोंका महत्त्व नहीं। न्यूनसंख्यक क्या एकसंख्यक राजाकी तरह अल्पसंख्यक निर्विशेष श्रुतियोंका महत्त्व है। उपर्युक्त विचारसे, जगत् आविद्यकवाद तथा निर्विशेष ब्रह्मवाद श्रुति प्रतिपाद्य है या नहीं इस प्रकारके सन्देहके लिए कोई आवकाश नहीं। यदि किसीको सन्देह हो तो गुरुमुखसे श्रुतिसूत्रोंका विचार करनेसे वह निवृत्त हो जायगा। सन्देह निवृत्त करनेकी अन्दर इच्छा न हो, ऊपरसे करबद्ध प्रार्थना की जाय, ऐसी दशामें सन्देह निवृत्त न होगा, क्योंकि भाष्यके मर्मज्ञ विद्वान् ऐसी प्रार्थनाका कोई महत्त्व भी नहीं समझते। महत्त्व समझें भी तथा कुछ समझानेका प्रयास भी करें तब भी गुरु प्रपत्तिके बिना सन्देह निवृत्त नहीं होगा। अतएव श्रुतिने कहा है। स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। निर्विशेष ब्रह्म जिज्ञासु आदरार्थ समित् हाथमें लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरण जावे—इस श्रुतिकी आज्ञाके अनुसार गुरुकी शरणमें जाये, बिना पुस्तकके रूपमें अपने आक्षेपोंको शङ्काका मिथ्यारूप देकर प्रकाशित करना शङ्का-निवृत्तिका उपाय नहीं।

द्वितीय-विरोध

सूत्र २.२.२८ में विज्ञानको स्वसंवेद्य माननेमें कर्तृ-कर्म विरोध होगा, इस प्रकार बौद्धका खण्डन करके साक्षीको स्वयं सिद्ध स्वीकार किया, इस पर बौद्धोंने कहा कि शब्दान्तरसे आपने हमारा ही पक्ष ग्रहण कर लिया। इस पर आचार्यने उत्तर दिया कि—न चार्थव्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते, स्वात्मनि क्रिया विरोधात्...साक्षिणोऽवगन्तुः स्वसिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वयावाचोक्त्यन्तरेणाश्रित इति चेत्, न, विज्ञानस्योत्पत्ति प्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्वाभ्युपगमात्। यहाँ यह प्रश्न होता है कि भले हो बौद्धके विज्ञानमें उत्पत्ति आदि विशेषताएँ हों तथा साक्षीमें न हों। परन्तु जिस कर्तृकर्म दोषको दिखाकर बौद्धोंका खण्डन किया था वह दोष साक्षीको स्वयं सिद्ध माननेपर भी होता है, उसका समाधान स्वपक्षमें क्या हुआ? दूसरी बात यह है कि माण्डूक्यके अद्वैत प्रकरणकी ३३वीं कारिकाके भाष्यमें ज्ञानरूप आत्मामें स्वसंवेद्यता आचार्यने स्वयं स्वीकार की है। तथा हि-तेनात्मस्वरूपेणाजेन ज्ञानेनाजं ज्ञेयमात्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यतेऽवगच्छति।

विरोध-परिहार

बौद्धोंका विज्ञान, अपने आपको आप प्रकाशता है। अतः कर्तृकर्म दोष

आता है। परन्तु भाष्यकार साक्षीको अपनेसे आपको प्रकाशमान नहीं मानते। अतएव भाष्यकार कहते हैं विज्ञानस्योत्पत्तिध्वंसेत्यादि। विज्ञान, उत्पत्ति, ध्वंस तथा अनेकत्व धर्मवाला है। जो उत्पत्ति, विनाश तथा अनेकत्व आदि धर्मवाला होता है, वह घटादिके समान न प्रकाश ही होता है न प्रकाशक। प्रकाश शब्दका अर्थ है ज्ञानस्वरूप चेतन। अतः हमारे साक्षीके समान बौद्धोंका विज्ञान न होनेसे विज्ञानवादी बौद्धका पक्ष ग्रहण करनेका आरोप आचार्य पर सम्भव नहीं। जो साक्षी है वह उक्त धर्मोंवाला न होनेसे ज्ञानस्वरूप चेतन ही है तथा नित्य है। ज्ञानरूप होनेसे साक्षी स्वसे या परसे अपने प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रखता। अतएव सर्वथा निरपेक्ष, अपरोक्ष, ज्ञानस्वरूप, साक्षी, आचार्यको मान्य है। जब स्वकी तथा अन्यकी, नित्य प्रकाश रूप होनेसे अपने प्रकाशमें अपेक्षा ही नहीं, तब कर्तृकर्म या अनवस्थादि दोष संभावित नहीं। इसी अभिप्रायसे भाष्यका उत्तर है। अतः यह कहना कि 'कर्तृकर्म-दोष साक्षीको स्वयं सिद्ध माननेपर भी होता है'। भाष्यकी गम्भीरताका गुरुमुखसे अध्ययन न करनेके कारणसे है। स्वसिद्ध या स्वयंसिद्ध पदमें स्व या स्वयं शब्द है उसका सर्वथा निरपेक्ष अर्थ है। न कि स्वयंके द्वारा स्वका प्रकाश।

जो यह कहा है कि माण्डूक्योपनिषत्को कारिकाके अद्वैत प्रकरणकी ३३ वीं कारिकाके भाष्यमें ज्ञानस्वरूप आत्मामें स्वसंवेद्यता स्वीकार की है। यह कथन भी भाष्यके विचारके बिना ही है। जो यह भाष्यका पाठ दिया है तेन आत्मस्वरूपेणाजेन ज्ञानेनाजं ज्ञेयमात्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यतेऽवगच्छति यह कारिकाके उत्तरार्धका अक्षरार्थ है। इसका भावार्थ जो भाष्यकारको अभिमत है, उसे बिना लिखे तथा बिना विचारे ही विरोध प्रदर्शन किया है। ठीक इस अक्षरार्थके पश्चात् भावार्थ लिखते हुए भाष्यकार कहते हैं कि नित्यविज्ञानैकरसघनत्वात् न ज्ञानान्तरमपेक्षत इत्यर्थः। भाष्यकारने कारिकाके उत्तरार्ध तथा उसके भाष्यका भाव स्पष्ट करते हुए उपर्युक्त पंक्ति लिखी है। जिसका भावार्थ है नित्यविज्ञानैकरसघन होनेसे आत्मा अपने प्रकाशके लिए ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं करता, यह कारिकाके उत्तरार्धका अर्थ है। भाष्यकार इस कारिकाका अर्थ ही जब ज्ञान निरपेक्षता करते हैं तब यह अर्थ करना या समझना कि भाष्यकार आत्माको स्वसंवेद्य कह रहे हैं, भाष्यके विचार बिना ही है।

३ विरोध

अनुस्मृतेश्च (सू० २.२.२५) क्षणिकत्वाच्च (सू० २.२.३१) में बौद्धसम्मत आत्माकी अस्थिरता (क्षणिकता) का खण्डन करते हुए स्मृति तथा

प्रत्यभिज्ञा द्वारा ही आत्माकी स्थिरता सिद्ध की है। किन्तु स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञा द्वारा तो संस्काररूप विकारवान् सोपाधिक कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता आत्माकी ही स्थिरता सिद्ध होती है, कूटस्थ निर्विकार आत्माकी नहीं। यदि कहा जाय कि सोपाधिक आत्माकी स्थिरता सिद्ध हो जानेपर निरुपाधिक आत्माकी स्थिरता तो स्वयं सिद्ध हो जायगी। यह उत्तर ठीक न रहेगा, क्योंकि तब तो सोपाधिक आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व सिद्ध होनेके कारण निरुपाधिक आत्मामें भी कर्तृत्व, भोक्तृत्व स्वयं ही सिद्ध हो जायगा, ऐसा मानना पड़ेगा।

विरोध-परिहार

यद्यपि हमने भी ३ विरोध तथा विरोध-परिहार ऐसे दो शीर्षक दिये हैं। सो विरोध-प्रदर्शक विद्वान्के कथनके अनुसार ही शीर्षक दिया है! वस्तुतः यह विरोध नहीं अपितु कूटस्थ आत्मामें स्थिरताका स्वीकार, कूटस्थ आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व स्वाभाविक हैं, ऐसा माननेके लिए वेदान्तीको बाध्य करेगा। जो कि वेदान्तीको अनिष्ट है। अनिष्टापादानरूप आपत्ति ही वेदान्तीकी दी गयी है विरोध नहीं, अतः इसको विरोधके प्रसंगमें नहो रखना चाहिए। किन्तु विरोध तथा आपत्तिका स्वरूप न जाननेके कारण ही ऐसा हुआ है! आपत्ति भी उचित नहीं। क्योंकि स्थिरताके दृष्टान्तसे सोपाधिक आत्मामें प्रतीयमान कर्तृत्व-भोक्तृत्व, शुद्ध आत्मामें तब ही सम्भव हैं, जब कि ऐसा नियम हो कि जो-जो सोपाधिक आत्मामें प्रतीयमान होता है, वह शुद्ध आत्मामें भी होता है। परन्तु ऐसा नियम (व्याप्ति) नहीं है! मैं गौर हूँ, काणा हूँ, इस प्रकार सोपाधिक आत्मामें प्रतीयमान गौरव तथा काणापना शुद्ध आत्मामें कोई भी आस्तिक दर्शन नहीं मानता। जब व्याप्ति ही नहीं तब सोपाधिक आत्मामें प्रतीयमान स्थिरता, शुद्ध आत्मामें रहती हुई भी दृष्टान्त बनकर कर्तृत्व-भोक्तृत्वको शुद्ध आत्मामें सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं।

यदि प्रश्न किया जाय कि—जो विशिष्ट आत्मामें प्रतीयमान धर्म होता है, वह शुद्ध आत्मामें स्वतः होता है, यह व्याप्ति नहीं है, तब शुद्ध आत्मामें स्थायित्व कैसे स्वीकार करते हो! इसका उत्तर यही है कि बौद्ध श्रुतिको प्रमाण नहीं मानते, अतएव उनके क्षणिक आत्माका खण्डन कर, जिस ज्ञातृत्वादि धर्मवान् आत्माको वे स्वीकार करते हैं, उसका स्थायित्व युक्तिसे सिद्ध किया है। यही उपर्युक्त सूत्रोंका विषय है। परन्तु शंकराचार्यजी तो श्रुतिको प्रमाण मानते हैं। अशरीरं शरीरेष्वनवस्थितेष्वस्थितम्। इत्यादिक श्रुतियोंसे स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण शरीरोंके अनवस्थित होनेपर भी आत्मा शरीरोंसे भिन्न अवस्थित है। अर्थात् निरतिशय स्थायी है। भाव यह है कि—उक्त व्याप्तिके न होनेपर भी आत्माका क्षणिकत्वाभावरूप स्थायित्व निरतिशय रूपसे श्रुतिसे सिद्ध है।

●

पञ्चम स्कन्ध : स्थान

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

'स्थान' क्या ?

भगवत्प्राप्तिके अधिकारियोंके लिए लौकिक सर्ग-विसर्गका वर्णन निष्प्रयोजन है, अतएव लौकिक-अलौकिक उभयविध सर्ग-विसर्गोंके द्वारा भगवान्‌का ही वर्णन किया गया है। लक्षणका वर्णन अपने लक्ष्यमें ही तात्पर्य रखता है। लक्षण तटस्थ हो या स्वरूप, लक्ष्य-बोधमें ही उसका तात्पर्य होता है। सर्ग-विसर्गके समान हो तृतीय लक्षण है—स्थान। कहीं 'स्थान' शब्दका प्रयोग है, कहीं 'स्थिति'का। 'स्थान' शब्द करण और अधिकरण दोनों ही अर्थोंमें मिलता है, 'स्थिति' शब्द भावमें। जिस भगवान्‌से, भगवान्‌में, स्थिति है और होती है उसको 'स्थान' कहते हैं। दूसरे स्कन्धमें 'स्थिति'का अर्थ वैकुण्ठ-विजय है और बारहवें स्कन्धमें वृत्ति अर्थात् जीविका। जीवनका साधन अथवा आधार स्थान ही है, वह तत्त्वतः भगवान् ही हैं। वैकुण्ठ-विजयका अर्थ है—यह सब भगवान्‌के अधीन है, सर्वत्र भगवत्सत्ता ही काम करती है। प्राकृत तत्त्व चौबीस होते हैं और आत्मा जीव एवं ब्रह्म-भेदसे दो प्रकारका होता है। अतः छब्बीस अध्यायोंमें स्थान-लीलाका निरूपण है। इस लीलाका अभिप्राय यह है कि विशेष पुरुष, विशेष कर्म और विशेष स्थानका परस्पर सम्बन्ध भगवान्‌के द्वारा ही नियन्त्रित होता है। यह नियन्त्रण ही वैकुण्ठ अर्थात् भगवान्‌की विजय है।

देश तीन प्रकारका होता है। तीन लोकको कौन नहीं जानता? काल इक्कीस प्रकारका होता है। स्थिति तीन प्रकारकी मानी जाती है—देशमें, कालमें और स्वरूपमें। भगवान् ही सबको अपने अधीन रखते हैं। प्रियव्रतके जीवनपर ध्यान दें। वे पहले विवेक-पूर्वक सद्‌गुरुके पास रहकर ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। नारदजी भगवान्‌के प्रेमी भक्त हैं, परन्तु ब्रह्मा और मनु आकर प्रियव्रतको राज्य करनेके लिए समझाते हैं। वेद ब्रह्माके मुखसे प्रकट होते हैं, ब्रह्मा वेदके आचार्य हैं, मनु स्मृतियोंके आचार्य हैं। श्रौत-स्मृति विभागके दोनों आचार्य

जब प्रियव्रतके पास आये तो उन्होंने यही निश्चय किया कि इनकी आज्ञा वेद और धर्मशास्त्रकी आज्ञा है, इसलिए उसे स्वीकार करना चाहिए। स्वयं प्रियव्रतके मनमें भोगकी कोई कामना नहीं थी, परन्तु भगवान्‌का दिया हुआ उन्होंने स्वीकार किया। अतएव राज्य-भोगकी प्राप्तिके अनन्तर भी इनको वैराग्य हुआ और मोक्षकी प्राप्ति हुई। स्पष्ट है कि सब भगवान्‌की लीला है। सद्‌गुरुकी सेवा ही मर्यादा-मार्गका सर्वोत्कृष्ट साधन है। अतएव नारदोक्त मार्गसे चलना ही मुक्ति-प्राप्तिका उपाय है। ईश्वरके भजनसे कालपर विजय प्राप्त की जा सकती है—यह सूचित करनेके लिए प्रियव्रतका रातको भी दिन बना देनेका कार्य है। उसके रथके पहियेसे सात द्वीप बन गये। यह देशपर विजय है और उन्होंने वैराग्यके द्वारा अपने व्यक्तित्व-पर विजय प्राप्त करके परमात्मा-स्वरूप मोक्षको प्राप्त किया—यह आत्मापर विजय है। इस प्रकार प्रियव्रतने भगवान्‌की शक्तिसे, भगवान्‌में रहकर देश, कालादिपर विजय प्राप्त की। यही वैकुण्ठ-विजय है। यह सब भगवान्‌के द्वारा ही सम्पन्न होता है, अतएव भगवान्‌का लक्षण है।

सर्वत्र भगवत्सम्बन्ध ही मंगलकारी :

भगवद्-इच्छासे ही ब्रह्माने प्रियव्रतके पुत्र आग्नीध्रके लिए अप्सरा भेजी; क्योंकि प्रियव्रतके जीवनमें ब्रह्माकी आज्ञासे जो काम-भोगांश आया था उसकी प्रधानता आग्नीध्रमें थी, अतः आग्नीध्रको काम-भोगके लिए अप्सरा प्राप्त हुई। वे मरणके पश्चात् भी अप्सरा-लोकमें गये और वहीं काम-भोगका परित्याग करके भगवान्‌से एक हो गये। काम-भोगके लिए जड़ता स्वीकार करनी पड़ती है। इसी कारण अप्सराको देखकर वे जड़वत् हो गये थे और शृङ्गार-रसानुसारी मधुर वचनोंसे उसको वशमें किया था। आग्नीध्र थे पुरुष, अप्सरा थी प्रकृति। भगवत्सम्बन्धसे पुरुष प्रकृतिको वशमें कर सकता है; वह शक्ति-आग्नीध्रकी नहीं, भगवान्‌की थी।

आग्नीध्रके पुत्र नाभि हुए। प्रियव्रतमें जो ब्रह्माकी वाणीपर वेदवत् श्रद्धा थी, वह नाभिके जीवनमें ब्राह्मणोंके प्रति श्रद्धाके रूपमें प्रकट हुई। वेदभक्तिने ब्राह्मण-भक्तिका रूप ग्रहण किया। ब्राह्मण ब्रह्मा हैं, क्योंकि उनकी वाणीसे वेदोंका प्रकाशन होता है। नाभिके पुत्र होनेके लिए ब्राह्मणोंने यज्ञानुष्ठान कराया और उसमें भगवान् प्रकट हुए। ब्राह्मणोंने ही भगवान्‌से प्रार्थना की कि यह राजा आपके समान पुत्र चाहता है। भगवान्‌ने कहा—मेरे समान और कोई नहीं है, अतः मैं ही इनका पुत्र बनूँगा। किसी-किसीका मत है कि ब्राह्मण एवं धर्मके प्रभावसे नाभिको यह फल प्राप्त हुआ,

परन्तु धर्म, ब्राह्मणका सामर्थ्य भी भगवान्‌का ही सामर्थ्य है। अतएव पुत्र बननेसे भी भगवान्‌की स्थिति-स्थापकता ही सिद्ध होती है। भगवान्‌के प्रति लौकिक भाव भी मुक्तिका ही हेतु है। भगवान् जो करते हैं, उसमें प्रपञ्चकी निवृत्ति ही होती है, प्रवृत्ति नहीं। यही कारण है कि निवृत्तिके लिए ऋषभावतार होनेपर भी राज्य, पुत्रोत्पत्ति आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले कार्य करते हैं।

ऋषभावतारका चिन्तन :

ऋषभदेवसे इन्द्रने स्पर्धा की। उनके राज्यमें वर्षा करना बन्द कर दिया, आश्चर्य है कि उस मन्वन्तरमें भगवान्‌के अंशावतार यज्ञ ही इन्द्र थे, ऋषभदेव भी भगवान्‌के अवतार ही थे, भगवान् भगवान्‌में स्पर्धा कैसी? इसका उत्तर यह है कि यज्ञावतार क्रियाशक्ति-प्रधान था। यज्ञ भी क्रिया और उसके आराध्य देवता भी क्रिया-शक्तिके अधिष्ठाता इन्द्र। ऋषभदेव ज्ञानशक्ति-प्रधान और निवृत्तिके लिए उनका अवतार। इन्द्रने उनके भग-वत्त्वकी परीक्षाके लिए अथवा प्राकट्यके लिए वर्षा बन्द कर दी। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इन्द्रको अपनी कन्या जयन्तीका विवाह ऋषभ-देवके साथ करना था, अतः ऋषभ-देवकी अलौकिक शक्ति प्रकट करनेके लिए इन्द्रने स्पर्धा की। कन्याका विवाह करनेके लिए वरकी परीक्षा भी आवश्यक होती है। ऋषभदेवके पुत्र होनेपर भी नाभिको मोक्षकी प्राप्ति नहीं हुई; क्योंकि पुत्र-कामनासे उन्होंने भगवान्‌को प्राप्त किया था। भगवान्‌ने उनकी कामना पूरी कर दी। अब भगवान्‌के पुत्र-रूपमें प्राप्त होनेपर भी नाभिने उन्हें तो ब्राह्मणोंके हाथोंमें समर्पित कर दिया और स्वयं नर-नारायणका आश्रय लेकर मुक्ति प्राप्त की। तपस्या एवं ज्ञानसे एकको ही भगवत्प्राप्ति होती है, परन्तु भग-वद्भक्तिसे अनेकोंको ही भगवत्प्राप्ति होती है। नाभिने पत्नी सहित वान-प्रस्थ-धर्मकी रीतिसे भगवत्प्राप्ति की थी। प्रियव्रतके जीवनमें आदि-अन्तकी दृष्टिसे गुरुसेवाकी प्रधानतासे ब्रह्मचर्य है। आग्नीध्रमें गृहस्थाश्रम स्पष्ट है। ऋषभदेवने अपने पुत्रोंको उपदेश किया। यह पिता और राजाका कर्तव्य है।

ऋषभदेवने अपने पुत्रोंको सम्बो-धित करके तपस्याका जीवन व्यतीत करनेका उपदेश किया और उसीको अनन्त ब्रह्मसुखका कारण बताया। सत्सङ्गमें प्रीति रखना, इन्द्रियोंकी तृप्तिमें मुग्ध न हो जाना, सावधान रहना। संसारकी वस्तुओंमें मैं-मेरा मोह ही है। अन्य पदार्थमें, हृदयमें, आत्मामें, अहंभाव ही लिङ्ग शरीर है, जिससे गमनागमन होता है। कुशलतासे इसका निषेध कर देना

चाहिए। जब हृदय-ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाये तब योगाभ्याससे भी उपराम हो जाना चाहिए। मूलग्रन्थमें यह उपदेश-प्रकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

ऋषभदेवके जीवनमें यौगिक सिद्धियाँ स्वयं भी उपस्थित हुईं, परन्तु उन्होंने सिद्धियोंका अभिनन्दन नहीं किया। ध्यान देने योग्य है कि ऐसे सत्पुरुषके लिए सिद्धियाँ कोई विघ्न उपस्थित नहीं कर सकतीं, तथापि उन्होंने मनका विश्वास करना उचित नहीं समझा; क्योंकि मन अत्यन्त चञ्चल है, इससे मैत्री कर लेनेपर मनुष्य ठगा जाता है। बड़े-बड़े समर्थ पुरुष भी इस धूर्त मनके साथ मित्रता करके अपनी चिरसञ्चित तपस्या नष्ट कर बैठते हैं। यह पहले कहता है—देखनेमें क्या पाप है? फिर कहता है—बात करनेमें क्या पाप है? फिर कहता है—स्पर्श करनेमें क्या पाप है? अनजानमें ही मनुष्यको पापके गर्तमें धकेल देता है। मन अपने अन्दर गुप्तरूपसे कामादि शत्रुओंको रखता ही है। इसलिए इसको स्वच्छन्दताका अवसर कभी नहीं देना चाहिए। इसीसे ऋषभदेवजीने सिद्धियोंको स्वीकार नहीं किया। मृत्युके समय भी उन्होंने अपने मुँहमें पाषाण-खण्ड डाल लिया कि जिससे बाहरकी वस्तु भीतर प्रवेश न कर जाये, संसारका नाम भी मुखमें न आये। भक्तोंपर प्रसन्न होकर भगवान् उन्हें सन्मार्गकी शिक्षा देनेके लिए स्वयं कितना कष्ट उठाते हैं—इसका यह एक उदाहरण है।

अमोघ भगवदाराधन :

भरत-चरित्र मनुष्य जीवनका एक उत्कृष्ट प्रकाश है। पृथिवीका पालन, विवाह, पुत्रोत्पादन और इतना यश कि उन्हींके नामसे इस अजनाभ वर्षको 'भारतवर्ष' कहा जाने लगा। इस अर्थ-कामके साथ-साथ भरत मुख्यतः धर्मानुष्ठान-निष्ठ थे। वे सम्पूर्ण देवताओंमें और अपने यजमान-शरीरमें भी एक ही अन्तर्यामी परमेश्वरकी भावना करते थे। देवता नाम चाहे कुछ भी हो और यजमान चाहे कोई भी हो, उसके नियन्ता प्रभु एक ही हैं। देवता, यज्ञ, यजमान, मन्त्र, पुरोहित, क्रिया-कलाप सब-के-सब प्रभुके अवश्य ही हैं। इस दृष्टिसे वे यज्ञका अनुष्ठान करते थे। वे राज्य पुत्रोंको देकर स्वयं पुलहाश्रम गये। वहाँ भक्तिभावसे भगवान्की परिचर्या-सपर्या करने लगे। नेत्रोंमें आँसू, शरीरमें पुलकावलि, हृदयमें प्रेमानन्द, इतनी ऊँची स्थिति होनेपर भी उनके जीवनमें एक विघ्न आ ही गया।

वह विघ्न यह था कि एक अनाथ मृगशावकके प्रति उनके मनमें दयाका उदय हुआ। भक्ति होती है अन्तरङ्ग—अन्तर्यामीके प्रति। दया होती है बहिरङ्ग, दुःखी प्राणियोंके

प्रति। दया सात्त्विक-वृत्ति होनेपर भी मनको बाहर फेंक देती है। यहाँ तक तो ठीक है कि दुःखीका दुःख दूर करके दयावृत्ति फिर अन्तर्यामीके पास लौट आये, परन्तु जब वह अपनी दयालुताका राजसिक अभिमान धारण कर लेती है, तब भगवत्सेवामें विक्षेप-विघ्न उपस्थित हो जाता है। वह दयावृत्ति भी आसक्ति बनकर तामसिक हो जाती है एवं जड़ बना देती है। इस प्रकार सात्त्विक वृत्ति ही विकृत होकर बन्धनका रूप ग्रहण कर लेती है। भरतके जीवनमें भी ऐसा ही हुआ। वे हरिण-शावकका ध्यान करते हुए मरे और दूसरे जन्ममें हरिण हो गये। यह अवश्य है कि भगवान्‌की आराधना कभी व्यर्थ नहीं जाती। अतः हरिण-शरीरमें भी उन्हें भगवत्-विस्मृति नहीं हुई और भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उन्होंने समयपर उस शरीरका परित्याग कर दिया।

तीसरे जन्ममें ब्राह्मण-शरीर मिलनेपर भी उन्होंने किसीके साथ मेल-जोल नहीं रखा। हाँ, राजा रहूगणके मिलनेपर उनका तत्त्वज्ञान मुखरित हो उठा। कहीं-कहीं ऐसा उल्लेख मिलता है कि राजर्षि भरतका वही वात्सल्य-भाजन मृग-शिशु राजा रहूगणके रूपमें जन्म लेकर पूर्व संस्कारके अनुसार ज्ञान प्राप्त करनेके लिए जड़भरतके पास पहुँच गया और पूर्व जन्मके वात्सल्य-संस्कारने जड़-भरतके जीवनमें भी अपना चमत्कार दिखा दिया। जड़भरतने राजा रहूगणको जो बहुत डाँट-फटकारकर उपदेश किया है वह भी वात्सल्यकी एक अभिव्यक्ति ही है।

जड़भरतकी तत्त्वाभिमुख स्थिति :

जड़भरतका स्पष्ट कहना है कि तत्त्वज्ञानको व्यवहारके साथ नहीं जोड़ना चाहिए। तत्त्वानुभूतिके लिए तत्त्वातिरिक्तसे वैराग्य होना आवश्यक है। मन ही माया है, यह संरारका चक्र उसीका जादू है। उपेक्षासे यह बलवान् हो जाता है। गुरु हरिको चरणोपासनाकी तलवारसे यह मारा जाता है। चराचर सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलय मृत्तिका ही है, भेद नाम-मात्रका है। राजापनेका अभिमान एक झूठा नशा है। सत्पुरुषोंके चरणोंकी धूलसे धूसरित हुए बिना और किसी उपायसे संसार-चक्रसे त्राण नहीं मिल सकता। 'भली-भाँति सत्सङ्ग करके ज्ञानकी तलवार प्राप्त करो और उससे इस मोह-बन्धनको काट दो।' जड़-भरतने परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों रूपोंमें जीवकी गतिका वर्णन करके रहूगणका अज्ञान दूर कर दिया। भरतवंशमें गय नामका राजा प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी हुआ है। इस प्रकार पन्द्रह अध्यायोंमें स्वरूप-स्थितिका वर्णन है। इनमें सत्सङ्ग, वैराग्य, देवतानुग्रह, यज्ञ, भगवत्प्रसाद, जीवन्मुक्ति, भक्ति,

योग आदिके द्वारा देश-कालका अतिक्रमण और स्वरूप-स्थितिका वर्णन है। भगवद्-भजनसे ही ऐसा होना शक्य है। इसलिए इन सभी प्रसङ्गोंमें सबकी स्थिति भगवान्‌के अधीन ही है, यह रहस्य प्रकट किया गया है।

परमात्म-पर्यवसायी देश-वर्णन :

स्थानके प्रसङ्गमें भूगोल, खगोल, पाताल एवं नरकोंका वर्णन आवश्यक है। परन्तु यहाँ उनके वर्णनमें तात्पर्य नहीं है। आरम्भमें ही कहा गया है कि भगवान्‌के गुणमय स्थूल रूपमें मन लग जानेपर निर्गुण, सूक्ष्मतम आत्म-ज्योति परब्रह्ममें प्रवेशके योग्य हो जाता है इसलिए उसका वर्णन करना है। अन्तमें उपसंहार भी यही किया गया है कि भगवान्‌के स्थूल रूपका वर्णन इसलिए किया गया है कि भगवान्‌के अग्राह्य रूपको भी जान सके; क्योंकि श्रद्धा-भक्तिसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है। भगवान्‌के स्थूल, सूक्ष्म रूपका ध्यान करनेसे धीरे-धीरे मन सूक्ष्म होकर भगवान्‌में प्रवेश करता है। यह सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड भगवान्‌के स्थूल शरीरमें ही निवास करता है। अतः इस प्रसङ्गका अभिप्राय उन-उन पदार्थोंके वर्णनमें नहीं है, प्रत्युत परमात्माके वर्णनमें ही है।

पृथिवी शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धसे युक्त है। अतः पाँच अध्यायोंमें उसका वर्णन किया गया है। इसमें सत्त्वप्रधान तम, रजःप्रधान तम, तमःप्रधान सत्त्व, तमःप्रधान रज और तम, गुणोंके इस मिश्रणसे भी पृथिवी पाँच प्रकारकी है। जम्बूद्वीप चतुर्विध पुरुषार्थका हेतु है, अतः उनके लिए चार अध्याय रखे गये हैं। पृथिवीके परिमाण और स्वरूपका वर्णन ध्यानके लिए ही है, यह स्पष्ट है, क्योंकि वह भगवान्‌का कटिभाग है। जिस द्वीपमें जन्म लेनेसे ही मनुष्य कल्याणकी ओर अग्रसर हो जाये, उसका नाम जम्बूद्वीप है। यहाँकी भूमि स्वतः शुद्ध है। जलकी दृष्टिसे भी यहाँकी भूमि परम पावन है; क्योंकि यहीं गङ्गावतरण हुआ है। चरण ब्रह्म-लोकमें धोया गया, वह जल मध्य-भागपर गिरा। अतः यह लोक और जल भगवद्-भजनके लिए उपयोगी है। गङ्गा-जलसे भगवान्‌की पूजा आदि करनी चाहिए। गङ्गाके तीन रूप हैं—एक है—जल-रूप, जिससे सब व्यवहार किया जा सकता है। द्वितीय है—प्रवाहरूप, वह तीर्थ है। उसके स्नानपानसे दोषकी निवृत्ति एवं पुण्यकी उत्पत्ति होती है। तीसरा रूप है—भगवच्चरणारविन्दका जल होना, इससे भजनके योग्य शरीरका निर्माण होता है। गङ्गाके सम्बन्धसे दूसरी नदी एवं मार्गका जल भी गङ्गारूप हो जाता है, जो अपने सम्बन्धसे सबको पवित्र कर देता है।

जम्बूद्वीपके सभी खण्डोंमें भगवान्‌की पूजा होती है।

भौगोलिक या खगौलिक दृष्टिसे विद्वानोंने इसका बहुत विचार किया है। परन्तु तत्त्वतः इसका तात्पर्य भगवान्‌के ध्यानमें ही है, इसलिए बहुत भौतिक अनुसन्धान अनुपयुक्त है।

जैसे पुरुषके शरीरमें शिरोभागसे लेकर पादतलपर्यन्त सभी प्रकारके अवयव होते हैं और अपना-अपना कार्य सम्पादन करते हैं, उसी प्रकार विराट् पुरुषके शरीरमें भी मल-स्थान, मूत्र-स्थानक समान नरक आदि हैं, जिनमें हम शुद्ध-अशुद्धका विभाग करते हैं। उनमें भी भगवान्‌के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। परिपूर्ण विराट् ध्यान होनेके लिए उनका होना भी आवश्यक है। जैसे तृतीय स्कन्धमें सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन है और चतुर्थमें विविधताका, वैसे ही पञ्चम स्कन्धमें उसके विस्तारका भी वर्णन है। इससे स्थान कितना बड़ा है और उसका अधिष्ठान स्वप्रकाश प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मा कितना बृहद् है—यह समझनेमें सहायता मिलती है। कोई प्रत्यगात्माको छोड़कर बाहर स्थानका आदि, अन्त ढूँढ़नेके लिए किसी ओर भी जाये, कभी उसका आदि, अन्त नहीं मिल सकता, उससे भी आगे, उससे भी आगे। अन्ततः बुद्धि अज्ञानान्धकारमें लीन हो जाती है। परन्तु यदि प्रत्यगात्मा अनुसन्धन करें तो वहीं पूर्व-पश्चिम आदि देशका आरम्भ और अन्त मिल जायेगा। तदाकार बुद्धियोंका अन्तर्यामी ईश्वर प्रत्यगात्मासे अत्यन्त सन्निहित ही वास करता है। अतः नियम्यकी उपाधिसे विनिर्मुक्त नियन्ता प्रत्यगात्मासे अभिन्न ही होता है। उसमें कालक्रम, देशक्रम, वस्तुके परिणाम और परिमाणसे ही जाने जाते हैं। वस्तु अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें ही प्रकाशित होती है। अन्तः वस्तु, देव एवं कालका भेद अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें प्रतीत होता है। इस विचारसे प्रत्यक् चैतन्यकी ब्रह्मरूपताका अनुभव हो जाता है। अतः स्थानके विचारसे अधिष्ठान अर्थात् स्थानापेक्षया अधिक निरतिशय बृहत् वस्तुके बोधमें सहायता मिलती है। इसीसे स्थानका निरूपण किया गया है।

षष्ठ स्कन्ध : पुष्टि अथवा रक्षण

भगवदनुग्रह क्या है ?

जैसे एक माली उद्यानकी देख-भाल करता है, जहाँ आवश्यक होता है वहाँ गोड़ता है, गीली मिट्टी सुखाता है, सिंचाई करता है, खाद देता है; इस प्रकार वृक्षोंको परिपुष्ट करता है, अपेक्षित होनेपर काट-छाँट भी करता है; इसी प्रकार भगवान् अपने इस

जगद्रूप उद्यानकी पुष्टि एवं रक्षा करते रहते हैं। जीवनमें दोनों ही आवश्यक हैं; रोग निवृत्तिके द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा एवं पुष्टिके द्वारा संवर्द्धन। क्रमशः दूसरे और बारहवें स्कन्धमें स्थानके पश्चात् पुष्टि एवं रक्षाका वर्णन है। स्थानके बाद पुष्टि, वृत्तिके बाद रक्षा, यही छठे स्कन्धका स्वरूप है। इस स्कन्धमें यह बतलाया गया है कि जब जीवका बल क्षीण हो जाता है और वह हीन दशामें पहुँच जाता है, तब भगवान्‌का बल-वीर्य उसको संरक्षण एवं संवर्द्धन प्रदान करता है। जीवका बल-वीर्य अल्प है, भगवान्‌के बल-वीर्यसे बढ़कर और कोई बल-वीर्य नहीं है। जब जीव अपने निषिद्ध कर्मोंके आचरणमें अपने-आपको खो बैठता है, उस समय भगवान् पुष्टिरूप अनुग्रहके द्वारा उसका उद्धार करते हैं। यह त्वं-पदार्थका बल नहीं, तत्-पदार्थका बल है। अतः इसका अन्तर्भाव पौरुषमें नहीं हो सकता। प्रभुकी इच्छा दूसरी वस्तु है, अनुग्रह उससे भिन्न है। इच्छा, काल आदि तत्त्वोंको प्रवृत्त करती है और अनुग्रह उनके प्रभावको निवृत्त करता है। परमात्माने ही अपनी सत्ता, ज्ञान और स्वतन्त्रतासे जीव, जगत्‌की प्रवृत्तिको भी सत्ता, ज्ञान एवं स्वातन्त्र्य दे रखा है। जहाँ कालकर्मादिके द्वारा जीव ग्रस्त हो जाता है, वहाँ निवारण करनेके लिए अनुग्रहके रूपमें अपनेको प्रकट कर देता है। जीव-जगत्‌में परमात्माकी ही सत्ता, स्फूर्ति, स्वातन्त्र्य एवं प्रियता है। हिरण्यगर्भ-रूपसे सूक्ष्म आकृति, विकृति, संस्कृति देता है तथा विराट् रूपसे स्थूल आकृति, आयु एवं भोग देता है। वह जीव-जगत्‌को ग्रहण किये हुए है, उन्हें अनुगृहीत करता रहता है। सर्वथा अनुगत रहता है और कभी परित्याग नहीं करता। यह अपरित्याग-लक्षण अनुग्रह जीवको भी नष्ट नहीं होने देता, जबतक वह परमात्मासे एक न हो जाये। प्रवाह रूपसे जगत्‌की नित्यता भी अनुग्रह ही है।

समर्पण ही सर्वोत्तम प्रायश्चित्त है :

राजा परीक्षितने श्रीशुकदेवजीके मुखसे सुना कि पापी मनुष्यको नरकमें जाकर दुःख भोगना पड़ता है। अतः मृत्युके पूर्व ही उसको प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए। बड़े पापका बड़ा प्रायश्चित्त होता है, छोटे पापका छोटा। राजाने विचार किया कि मुझसे पाप हुए हैं, मैंने प्रायश्चित्त भी नहीं किया है। अतः मुझे उनका फल-दुर्गति भोगना पड़ेगा। परन्तु प्रायश्चित्तोंके सम्बन्धमें एक शङ्का है। ज्ञान और कर्म दोनों ही पापके प्रायश्चित्त नहीं हो सकते, क्योंकि मनुष्य यह जानते हुए भी कि यह कर्म पाप है और मेरे लिए अहितकर है, किसी विवशतासे ग्रस्त होकर पाप

करता है। प्रायश्चित्त कर्मके अनन्तर भी पुनः पाप होता है। यह तो हाथीका स्नान हुआ कि उसने नहा-धोकर बाहर निकलकर अपने ऊपर धूल डाल ली। श्रीशुकदेवजो महाराजने उत्तरमें कहा कि प्रायश्चित्तसे पापोंका नाश तो हो जाता है, परन्तु पुनः पाप न हो, यह व्यवस्था पापोंके ज्ञान एवं कर्मानुष्ठानसे नहीं हो पाती, यह तो तभी हो सकती है जब भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण हो अथवा सत्पुरुषोंकी सेवा मिले। जो भगवान्‌से विमुख हैं, उनको सहस्र-सहस्र प्रायश्चित्त भी आत्यन्तिक पवित्रता नहीं दे सकते। क्या सुरा-घट नदीमें धोनेसे पवित्र हो सकता है? अतः भगवान्‌के चरणारविन्दमें मन लगाना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है और नरकसे बचनेका मार्ग है। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए अजामिलका दृष्टान्त है।

भगवन्नाम-समीक्षा :

इस प्रसङ्गमें तीन अध्याय हैं—नाम-कीर्तन एवं नाम-स्मरण। नाममें जीव-बल नहीं है, भगवान्‌का बल है। जैसे ज्ञान कर्ताके अधीन नहीं होता है, ज्ञेय वस्तुके स्वरूपके अधीन होता है, इसी प्रकार नाम उच्चारण-कर्ताके बलसे अपना फल नहीं देता, जिस प्रभुका नाम है उसके बलसे अपना फल देता है। नाममें अपना बल न होनेके कारण ही, उसके लिए पवित्र देश, पवित्र काल, पवित्र व्यक्ति एवं विधिपूर्वक उच्चारणकी आवश्यकता नहीं होती। नाममें श्रद्धा-अश्रद्धा एवं ज्ञान-अज्ञानका भी कोई प्रभाव नहीं होता, सर्वथा नामी भगवान्‌के बलसे ही वह प्राणीका कल्याण करता है! उसे पापी, पुण्यात्मा, शुद्ध, अशुद्धकी पहचान भी नहीं है। वह केवल भगवद्‌बलसे ही बली है। इसीसे अजामिलके मुखसे उच्चरित 'नारायण' नाम अजामिलके उद्धारका हेतु बन जाता है। अजामिलने मरणासन्न-अवस्थामें अपने नारायण नामक पुत्रको पुकारा। 'नारायण' नामका देवगुह्य माहात्म्य न जाननेके कारण यमदूत आ टपके और उसको बाँधकर ले जाने लगे, उसी समय अपने पार्षदोंके हृदयमें प्रवेश करके स्वयं नारायण वहाँ प्रकट हो गये। अजामिल सन्मार्गमें प्रवृत्त हो गया।

अभिमान ही दोषोंका मूल है :

अजामिल अपने पूर्व जन्ममें विद्वान्, सदाचारी, मातृ-पितृ-भक्त एवं अनेक सद्‌गुणोंसे सम्पन्न था, परन्तु उसमें अपनी श्रेष्ठताका अभिमान था, जिसके कारण काल-शक्तिरूप वेश्याने उसपर कामाक्रमण करके उसके अभिमानको चूर-चूर कर दिया और वह भोग-मदिराका पान करके मतवाला हो गया। कालशक्ति किसीके

अभिमानको नहीं रहने देती। जब अभिमान टूट जाता है, जब विषयी एवं प्रमाता निर्बल हो जाता है, तब प्रमेयका बल अर्थात् भगवान्‌का बल प्रकट होता है। यही कालकर्मादि-निवारक भगवान्‌का अनुग्रह है।

भगवन्नाममें शक्ति :

भगवन्नाममें इतना बल कैसे आजाता है कि वह पापी और बड़े-से-बड़े अज्ञानीका भी कल्याण कर सके? निस्साधन तथा कुसाधनको भी भगवान्‌का अनुभव करा सके? यह निश्चित है कि नाम और नामीका अभेद है। नाम और अर्थका औत्पत्तिक सम्बन्ध है। स्वयं भगवान् आनन्दसे उल्लसित होते रहते हैं और अपने नामोंका दिव्य संगीत गाते रहते हैं। वही भगवद्रसोल्लास सम्पूर्ण विश्वको रससे आप्लावित करता रहता है। अतएव न केवल नाममें, प्रत्युत नामाभासमें भी भगवान्‌का सम्पूर्ण बल प्रकट होता रहता है। भले ही किसीके पुत्रका भगवान्‌के नामपर नाम हो। परन्तु उस नामके वास्तविक अर्थ तो वही हैं, क्योंकि सम्पूर्ण नामों, रूपों और क्रियाओंमें उनकी व्याप्ति है। तादृश शब्द सुनते ही वह छलक पड़ती है। भगवान् अपने नामको इतना प्यार करते हैं कि दूसरा कोई अपना वह नाम रख भी ले तो भगवान् अपने नामके सौन्दर्य-माधुर्यपर मुग्ध होकर उसे अपना ही समझ बैठते हैं। मुग्धता भी भगवान्‌की स्वाभाविक शक्ति है!

भगवन्नाममें प्रमेय बल है :

प्रश्न यह है कि मृत्युके समय कोई भगवान्‌के नामका उच्चारण, कीर्तन, श्रवण या स्मरण कैसे कर सकता है? अग्नि मन्द हो जाती है, प्राण क्षीण हो जाते हैं, इन्द्रियोंकी शक्ति लुप्त हो जाती है, मन मूर्च्छित हो जाता है, बुद्धि सुषुप्त हो जाती है, फिर कोई भगवान्‌का नाम कैसे सुने, कैसे बोले, कैसे स्मरण करे? ठीक है, मृत्युके क्षणसे पूर्व तो नामोच्चारण हो सकता है। कितने पूर्व? इतने पूर्व कि जिसके पश्चात् और मृत्युसे पहले पापकर्म न हो। नामोच्चारणमें इतना सामर्थ्य है कि अनादि संचित सम्पूर्ण पापराशि तत्क्षण भस्म हो जाती है और मृत्युके अनन्तर पापफलका भोगना शेष नहीं रह जाता। मनुष्य भगवत्प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर हो जाता है।

और शास्त्र प्रमाण :

आश्चर्य है जीव अनादि है, अन्तःकरण अनादि है, कर्म अनादि है, पापोंकी कोई गणना नहीं है, नामोच्चारण मात्रसे अगणित राशि-राशि पाप कैसे भस्म हो जायेंगे? विश्वास नहीं होता। ठीक है विश्वास नहीं होता, परन्तु क्यों नहीं होता? इसलिए

कि आपने शास्त्रीय प्रणालीसे पाप और पुण्यका निश्चय नहीं किया है, आपने निर्मूल अनुमानके बलपर एवं गतानुगतिक अन्धपरम्पराके अनुसार पाप-पुण्यकी कल्पना कर रखी है। पाप-पुण्य न प्रत्यक्ष हैं और न काल्पनिक, वे केवल शास्त्रीय विधि-निषेधसे ही प्राप्त होते हैं। इसका कारण यह है कि सृष्टिका मूल उपादान चाहे ब्रह्म हो, माया हो, ईश्वर हो, प्रकृति हो शून्य हो, चित्त हो, पञ्चभूत हो या अज्ञान हो, है एक ही। उसमें स्वाभाविक पाप-पुण्यकी विभाजक रेखा नहीं हो सकती। विशेष-विशेष परमाणुओंमें भी पाप-पुण्यके संस्कार नहीं होते, वह केवल शास्त्रीय संविधानसे ही प्राप्त होते हैं। इसलिए वे कब हैं और कब मिट जाते हैं, इसका निश्चय शास्त्रीय व्यवस्थाके अनुसार ही किया जा सकता है। शास्त्र स्पष्ट रूपसे कहता है कि नामोच्चारण ही नहीं, नामाभास भी सम्पूर्ण पापोंका नाश कर देता है। नामोच्चारणमें पाप-दाहकी इतनी शक्ति है कि कोई बड़े-से-बड़ा पापी भी उतना पाप नहीं कर सकता। अतः नामोच्चारणके अनन्तर मृत्युपर्यन्त यदि कोई पाप न हो तो पाप शेष या पापलेश भी नहीं रहता है और कल्याणका मार्ग खुल जानेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं रहती!

धर्मराज और उनके दूतोंके संवादसे और परम शैव महर्षि अगस्त्यके शपथपूर्वक कथनसे भी यह बात प्रमाणित होती है।

भगवद्रूप अनुग्रहस्वरूप है :

नामके समान ही भगवान्‌का रूप भी है। रूपमें भी भगवान्‌की सारी शक्तियाँ अभिव्यक्त रहती हैं। रूपका स्वरूप क्या है? भगवान्। भगवान्‌का स्वरूप क्या है? रूप। अतः भगवान्‌के रूपमें उनका सभी स्वभाव, प्रभाव, गुण, लीला, नाम, तत्त्व, रहस्य पूर्ण रूपसे रहता है। अहल्याके समान निःसाधन एवं कुब्जाके समान कुसाधनका कल्याण भी रूपके द्वारा ही सम्पन्न होता है। छठे स्कन्धमें अनुग्रहकी अभिव्यक्ति नामके सदृश ही रूपके द्वारा भी हुई है। एक दृष्टिसे देखा जाये तो चौदह अध्यायोंमें रूपका ही व्याख्यान है। रूपके चौदह प्रकार हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, नाद, योग, द्वेष, स्वामित्व, हीनभाव, केवल, निश्चित, भेदविषय, यथास्थित, एवं स्नेह। इनके द्वारा इतनी ही प्रकारकी लीला सम्पन्न होती है और उनका वर्णन मूल ग्रन्थमें है। जैसे पहलेके तीन अध्यायोंमें नामोच्चारणादिका वर्णन है, इसी प्रकार रूप-सम्बन्धी ध्यानका वर्णन चौदह अध्यायोंमें है।

इस प्रसंगका सविशेष विवेचन 'निबन्ध'के षष्ठ स्कन्ध स्थित कठिनांशके निरूपणमें है। संक्षेपसे उसपर एक दृष्टि डालना प्रमोदावह रहेगा, अतएव

उसको उद्धृत करते हैं! भगवान्के पूर्वोक्त चौदह गुण ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण – इनके द्वारा ध्यानमें आते हैं और जीवका हित करते हैं। कर्मेन्द्रिय पाँच हैं, ज्ञानेन्द्रिय पाँच हैं और अन्तःकरण चार हैं। दक्षने रूपका ध्यान किया, उसके सामने त्रैलोक्यमोहन रूपधारी भगवान् प्रकट हुए। ऐसे रूपका ध्यान करनेसे शिवकी अवज्ञाका दोष निवृत्त हो गया एवं सृष्टि-कर्ममें प्रवृत्त होनेपर भी वह कल्याण-भाजन हुआ। भगवद्-रसका हर्यश्व एवं शबलाश्वको अनुभव हुआ। नारदके कहे हुए कूट वचनोंका अर्थ-बोध होनेपर सर्वेन्द्रिय और अन्तः-करणसे वेद्य आनन्दरूप भगवद्-रसकी अनुभूति प्राप्त हुई। इसीसे उन्होंने संसार-रसका परित्याग कर दिया। दक्षको उस रसका अनुभव नहीं हुआ। इसीसे उन्होंने नारदपर आक्षेप किया एवं शाप भी दिया। विश्वरूपमें कीर्ति-रूप एवं अनुभावरूप भगवद्-गन्धका अनुभव ब्रह्माने किया था, अतः देव-ताओंको यह आदेश दिया कि तुम लोग विश्वरूपको पुरोहित बनाओ। देवताओंने हृदयमें श्रद्धा-भक्तिका उदय हुआ, अन्यथा शत्रुओंके दौहित्रको वे पुरोहित क्यों बनाते? देवताओंने जब विश्वरूपके पास जाकर उनका हृदयसे आलिङ्गन किया तब विश्वरूपाविष्ट भगवान्का स्पर्श प्राप्त हुआ, इससे तापकी निवृत्ति, प्रार्थना एवं वरण सम्पन्न हुआ। आथर्वण दधीचि ऋषिसे प्राप्त कवचरूप भगवन्नाम त्रिलोकीका मन हरण कर लेता है, उसको प्राप्त करके दैत्यांश युक्त विश्वरूप भी वैष्णव हो गया, परन्तु जब उसने इन्द्रको कवच दे दिया, तब भगवन्नामका सम्बन्ध दैत्यांशसे न रहे, इसके लिए स्वयं भगवान्ने ही विश्वरूपका वध किया। इस प्रकार भगवत्सम्बन्धी नामरूप कवच मनोहर होता है।

भक्ति अनुग्रहका रूप है :

योगसे भगवान् आत्मप्रवेश देते हैं—ऐसा कहा है। मूर्तिमती देवरूपा भक्ति वृत्रासुरके उदरमें रहती है। भक्तिसे ही भगवान् सन्तुष्ट होते हैं। वृत्रासुरका वध किये बिना यह भक्ति बाहर नहीं आ सकती। अतः देवतागण संकटग्रस्त हो गये। जब इन्द्रको कवचरूप नाद प्राप्त हो गया, तब देवताओंका हृदय भगवत्स्तुति-परायण हो गया। भगवान् प्रकट हुए, देव-ताओंसे सम्भाषण किया, उन्हें अपनाया, वृत्रवधका उपाय बताया। इस वाक्-व्यवहारसे देवता भगवत्पक्षी हो गये, उनमें भगवान्का प्रवेश हो गया। युद्ध-हेतु है द्वेष। वह परस्पर हस्त-व्यापारसे होता है। जब भगवान्के प्रति द्वेषकी भावना होती है, तब भगवान् युद्ध करके कालद्वारा मोक्ष देते हैं। इससे दैत्योंको पुनः कालग्रस्त नहीं होना पड़ता। भगवान्के प्रति

किया हुआ द्वेष भी युद्धके रूपमें भगवान्‌के साथ हस्त-व्यापारका हेतु बन जाता है—यह बात वृत्रासुरने स्पष्ट रूपसे कही है। भगवान्‌के प्रति स्वामित्वको स्थापनासे सब सुख मिलता है। वृत्रासुरके हृदयमें मूर्तिमती भक्ति विद्यमान है और अपने प्रति दास-भावना एवं स्त्री-भावना भी विद्यमान है। अतः परस्पर सम्भोग भी है। इसीसे भगवान् सारा सुख देते हैं। वृत्तासुरकी चतुःश्लोकीमें यह स्पष्ट है। भगवान्‌के प्रति कभी हीन-भावना नहीं होनी चाहिए। वृत्रासुरकी वाणी और चेष्टासे इन्द्रको यह ज्ञात हो गया कि उसमें कितना ज्ञान, कितनी भक्ति एवं कितना बल है। इन्द्रने सब कुछ जान लिया, फिर भी वृत्रासुरके साथ युद्ध किया। असलमें यह वृत्रासुरके हृदयमें स्थित भगवान्‌का ही अनादर एवं त्याग था। यही कारण है कि उन्हें वृत्रासुरकी हत्याका दोष लगा और दुःख भोगना पड़ा।

केवल भगवान्‌की प्राप्ति सम्पूर्ण अर्थ प्रदान करती है। पूर्वोत्तर दिशामें लक्ष्मी कमलपर विराजमान रहती हैं। वहाँ सब पार्षदोंको छोड़कर केवल भगवान् लक्ष्मीके साथ विहार करते हैं। जब हत्याके दोषसे भयभीत इन्द्रको कहीं भी आश्रय न मिला, तब वे मानस-सरोवरमें प्रविष्ट हो गये। भगवान्‌ने इन्द्रको जो आश्वासन दिया था, उसीके बलपर इन्द्र वहाँ पहुँच गये। इन्द्रकी हीन भावना निवृत्त होनेपर फिर उत्कृष्ट बुद्धिका उदय हो गया। आधिदैविक हत्या केवल भगवान्‌से, आध्यात्मिक हत्या रुद्रसे और भौतिक हत्या यज्ञसे निवृत्त हो गयी।

ज्ञान भी भगवदनुग्रह है :

भगवान् जब मित अर्थात् मतिके विषय; ज्ञानके विषय होते हैं, तब योग देते हैं। जिन्होंने अपरिमितरूपसे भगवान्‌को मित कर लिया, उन्हें भगवान् अपना योग देते हैं। चित्रकेतु एवं अङ्गिराके सम्वादके द्वारा व्यतिरेक-मुखसे यह स्पष्ट किया गया है। अङ्गिरा ऋषि उपदेश करनेके लिए आये थे, परन्तु चित्रकेतुने पुत्र-प्राप्तिमें ही उत्कृष्ट सुखकी भावना प्रकट की, भगवद्भावनाका परित्याग कर दिया। इससे उसे भगवत्प्राप्ति तो हुई नहीं, दुःखकी प्राप्ति हुई। यहाँ भगवान्‌के सम्बन्धमें उत्कृष्टता, परमानन्दता और अनन्तताका ज्ञान न होनेके कारण भगवत्प्राप्तिका प्रसङ्ग आनेपर भी सफल नहीं हुआ। यदि वह भगवान्‌की महिमाको पहचान लेता, मतिका विषय मित कर लेता, तो भगवत्प्राप्ति तत्काल हो जाती। अतः भगवद्-ज्ञानके द्वारा ही भगवान्‌का मिलन होता है।

अतः अहङ्कार छोड़ो :

यदि कोई भगवान्‌को भिन्न कर दे अर्थात् अहङ्कारके वशमें होकर

भगवान्‌का छेदन-भेदन कर दे, तो उसे मृत्युकी प्राप्ति होती है, यह भेदन एवं विदारण अहङ्कारका कार्य है। यह अहङ्कार ही ऐसा है जो एक सर्वात्मा अद्वितीय आत्मस्वरूप परमात्माका विदारण करके जीवात्माको अलग कर देता है। इस प्रकार जीवात्मा ममता करके जड़ वस्तुओंको भी भगवान्‌से अलग कर लेता है, इससे भगवान् जीवके पास दुःख भेज देते हैं। चित्र-केतुके बालककी मृत्यु और उसके कारण शोक-मोह-भयकी प्राप्ति बत-लायी गयी। इसीके इस प्रसङ्गमें उपदेश किया गया कि द्वैतकी सत्यतापर विश्वास मत करो, अहङ्कारके लयके लिए सङ्कर्षणकी उपासनाका उपदेश किया गया, क्योंकि वे अहङ्कारके अधिदेव हैं। उनकी उपासनासे अह-ङ्कारका लय हो जाता है, फिर कभी उदय नहीं होता। भागवतमें सर्वत्र अहङ्कारको ही बन्धन एवं जन्म-मृत्युका हेतु कहा है। भगवद्-इच्छासे कभी अहङ्कार आजाये तो अपना कार्य करके पुनः निवृत्त हो जाता है। जैसे चित्रकेतुको वृत्रासुर बनानेके लिए शङ्करकी अवज्ञाके हेतु अहङ्कारका उदय तो हो गया, परन्तु भगवत्कार्य सम्पन्न होनेपर वह निरहङ्कार होकर देवीको प्रसन्न करनेमें समर्थ हो गया। भगवान्‌की भक्ति असुर-योनिमें भी हो सकती है—यह दिखाना ही वहाँ भगवत्ता है।

यथास्थित भगवान् ज्ञानदाता हो जाते हैं। जीवात्माने नारदके योग-बलसे प्रकट होकर अपने यथास्थित स्वरूपका ज्ञान दिया, जिससे राजाकी ममता टूट गयी। नारदने यथास्थित परमात्माका ज्ञान देकर सङ्कर्षणको सान्निध्य प्रदान किया। सङ्कर्षणके उपदेशसे सर्वात्मा अद्वितीय यथास्थित परमात्माके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त हुआ, वहाँ परमात्मा और आत्माकी एकताका साक्षात्कार हो गया।

भगवदनुवृत्ति उपाय है :

स्नेहसे भगवान् अवश्य ही वशमें हो जाते हैं। स्नेह मनका विषय है। भक्तिके लिए 'एकमना अविच्छिन्न मनो-गति'—ऐसा वर्णन है। अतः भक्ति ही स्नेह है, स्नेह ही भक्ति है। चित्रकेतुने सहस्रों वर्षों तक भगवान्‌की अनुवृत्ति और भक्ति की। अतः असुर-योनिमें भी वृत्रासुरके हृदयमें भक्ति होनेके कारण उसका मन भगवान्‌में प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार चौदह अध्यायोंमें, चौदह करणोंके द्वारा, चौदह प्रकारसे ध्यानका फल भगवत्प्राप्ति है—यह बात सूचित की गयी। पहले तीन अध्याय नामके, उसके बाद चौदह अध्याय ध्यानके और अन्तिम दो अध्याय भगवत्पूजाके हैं। जिसपर भगवान्‌का अनुग्रह होता है, उसके जीवनमें नाम, ध्यान एवं पूजा ये तीनों या तीनोंमें-से कोई एक प्रकट हो जाते

हैं। यही भगवान्‌के अनुग्रहकी पहचान भी है।

प्रवृत्ति सर्वरूपाश्रयसे :

शिवका अपमान करनेके कारण दक्षकी मृत्यु हुई और पश्चात् उसको बकरेका मुख मिला। भगवदाश्रयके बिना कर्मका फल विपरीत हो गया। ऐसा मुख मिलनेके कारण वह लज्जित हुआ और शरीर त्यागकर प्रचेताओंके पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुआ। उसमें कर्मकी दक्षतासे जितना भी सामर्थ्य एवं ज्ञान होता है, वह सब था। वह अपने सङ्कल्पसे सृष्टि बनाता था। परन्तु यह ज्ञानमूलक सङ्कल्प स्थिर नहीं होता था। यावत्सङ्कल्प सृष्टि रहकर मिट जाती थी। अतः उसने भगवान्‌की आराधना की। ज्ञान अग्नि है, वह अन्तःकरण-रूप वस्त्रको जला देता है, परन्तु वही ज्ञानाग्नि जब आराधनाके रसमय जलपर आरूढ़ होकर आता है, तब अन्तःरूप वस्त्रका प्रक्षालन कर देता है। जब दक्षका ज्ञान-बल आराधनासे तर हो गया तब उसकी असमर्थता मिट गयी। दक्षने सर्वरूपमें भगवान्‌का अनुभव किया, उसने देखा कि परस्पर वाद-विवाद करनेवाले पक्षी - प्रतिपक्षी दोनोंके हृदयमें बैठकर भगवान् ही उनमें युक्ति और शक्तिका प्रकाश करते हैं। अस्ति एवं नास्ति दोनोंमें भगवान् समान हैं, क्योंकि उनके बिना अस्ति और नास्तिकी सत्ता एवं स्फूर्ति हो ही नहीं सकती। भगवान्‌की आज्ञासे दक्षने सृष्टि की। शिवापमानकृत दोष निवृत्त हो गया और सृष्टि-कार्यमें संलग्न होनेपर भी वह कल्याण-भाजन हुआ—यही पुष्टि है।

निवृत्तिमें भी भगवदाश्रय :

परन्तु भगवान् केवल प्रवृत्ति-मार्गके ही पोषक नहीं हैं, निवृत्ति-मार्गके भी पोषक हैं। अतः नारदके हृदयमें बैठकर दक्षके पुत्रोंको जिनका नाम हर्यश्व एवं शबलाश्व था, कूट वाक्योंके अर्थचिन्तनमें लगाकर निवृत्ति-परायण कर दिया। नारदका मिलना, उपदेशका सुनना, चिन्तन करना, निवृत्ति एवं मुक्त हो जाना, दक्षपुत्रोंपर भगवान्‌का अनुग्रह था। दक्षको क्रोध आया, नारदपर। आक्षेप किये, शाप दिया। यह प्रवृत्ति-मार्गकी पुष्टि थी और नारदने सब कुछ सह लिया, प्रसन्न हुए, शाप देनेका सामर्थ्य होने-पर भी शाप नहीं दिया, यह निवृत्ति-पक्षकी पुष्टि थी। सहिष्णुता ही साधुका लक्षण है। दक्षकी पुत्रियोंके द्वारा सृष्टिकी वृद्धि-समृद्धि होना यह उनपर अनुग्रह है।

अतएव कृपाका अनुसन्धान कीजिये:

इन्द्र देवताओंका राजा है। स्वयं मर्यादामें रहना और दूसरोंको मर्यादामें रखना उसका काम है। परन्तु उसने

ऐश्वर्यके मदमें आकर मर्यादाका अतिक्रमण किया, भरी सभामें गुरुका अपमान। गुरु सब जानते थे, चुपचाप अन्तर्धान हो गये। गुरुका गुरुत्व इसीमें है कि ऐसे शिष्यको भी शाप न दे। प्रजापतिने देवताओंको सलाह दी कि तुम लोग विश्वरूपको गुरु बनाओ। विश्वरूप पहले मनुष्य था; पुरोहित बननेपर देवता हो गया। यज्ञको विपरीत करना उसका दैत्यत्व था। उसके पास दधीचि ऋषिका दिया हुआ कवच था, वह इन्द्रको प्राप्त हुआ, दैत्यभावके कारण वह मारा गया। इस प्रसङ्गमें इन्द्रके लिए विश्वरूप, दधीचि एवं वृत्रासुर तीनोंकी मृत्युमें इन्द्रके प्रति भगवान्‌का अनुग्रह ही हेतु है। चाहे कोई कर्मी हो, ज्ञानी हो, भक्त हो, तुष्टि-पक्षमें उनका ध्यान नहीं रखा जाता। भगवान्‌का अनुग्रह ही सर्वश्रेष्ठ है। वृत्रासुरके हृदयमें इतनी रस-पूरित भक्तिका होना भी पुष्टि ही है। भगवान्‌का अनुग्रह पूर्व जन्मके या इस जन्मके पापको, अभिमान आदि दोषको या जातिगत हीनताको नहीं देखता, वह तो सबके ऊपर बरसता-ही-बरसता है। इन्द्रकी हत्याका दोष पृथिवी, वृक्ष और स्त्रियोंमें बाँटना भी, खात-पूर्ति, पुनः-रोहण एवं भोग-समृद्धिके लिए अनुग्रह ही है। वृत्रासुरकी आहवनीय अग्निसे उत्पत्ति, वेदका प्रामाण्य सिद्ध करनेके लिए स्वरभङ्ग, विद्याधरके अहङ्कार-शेषका भञ्जन—ये सब अनुग्रहके ही शेष रूप हैं। वृत्रासुरका कर्मोत्पादित देह दधीचिके ज्ञानास्त्रसे नष्ट होता है।

दैत्योंकी माता दितिमें भगवत्पूजाके प्रति श्रद्धाका उपाय, पूजाका अनुष्ठान, गर्भमें पुत्रका आगमन, इन्द्रकी सेवा, पुत्रोंका अनेक रूप होना और दैत्यके स्थानपर देवता हो जाना—यह सब भगवान्‌का अनुग्रह है। छठे स्कन्धमें इन उन्नीस अध्यायोंके द्वारा रक्षा, पुष्टि अर्थात् अनुग्रहका निरूपण है। निश्चय ही जगत्‌के प्रत्येक पदार्थमें भगवान्‌की सत्ता, चिन्ता और प्रियता अनुगत रहती है। उसकी अनुगतिके बिना न कोई हो सकता, न जान सकता, न जाना जा सकता। न प्रेम कर सकता और न प्रियतम हो सकता। सच्चिदा-नन्द-स्वरूप भगवान्‌के अनुग्रह अथवा अनुगतिसे ही कर्ता-कर्म, ज्ञाता-ज्ञेय एवं भोक्ता-भोग्यका व्यवहार चल रहा है। भगवान् सबसे व्यावृत्त रहकर भी सबमें अनुवृत्त हैं। यह अनुवृत्ति ही वेदान्त-सिद्धान्तमें अनुगति एवं भक्ति-सिद्धान्तमें अनुग्रहके नामसे प्रसिद्ध है। जैसे मृत्तिकामें घट और घटत्व जातिका विभाग नहीं है, इसी प्रकार परमात्मामें देही-देहका विभाग नहीं है। उसके अनुग्रहसे ही भेद-अभेदके सारे व्यवहार सिद्ध होते हैं। वह अनु-ग्रहका ही एकमात्र आश्रय है।

●

तोंडरडिप्पोडियालवार

डा० वि० कृष्णस्वामी अय्यंगार
रीडर्—केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा-५

तमिल भाषामें भक्तिपरक कविताकी रचना करनेवाले वैष्णव सन्तोंको 'आलवार' कहते हैं। आलवार शब्दका अर्थ है डूबनेवाले। ये सन्त भगवद्भक्ति-सागरमें डूबे हुए हैं। अतः इनको 'आलवार'की सार्थक उपाधि मिली है। ऐसे तत्त्वदर्शी आलवारोंमें एक हैं श्री तोंडरडिप्पोडियालवार। इस नामका संस्कृतमें अनुवाद किया गया है—"भक्तांघ्रिरेणु"। श्रीवैष्णव सम्प्रदायकी मान्यता है कि भगवान्की सेवासे भागवतोंकी सेवाका महत्त्व अधिक है। भगवद्भक्तोंकी सेवा करनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः। ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।' अतः भक्तोंकी चरण-सेवामें निरत होकर इस आलवारने अपनेको भक्तोंके चरणोंकी धूल भक्तांघ्रिरेणु—घोषित किया। आलवारका पूर्व नाम था—'विप्रनारायण'। किन्तु ये अपने स्वयंघोषित नाम 'तोंडरडिप्पोडि'से ही विख्यात हुए। कहा जाता है कि विष्णुकी वनमालाने इस आलवारके रूपमें अवतार लिया। आपका जन्म चोलभूमि (वर्तमान केरल)में 'मंडंगुडि' नामक गाँवमें एक पुरश्चूड ब्राह्मण-परिवारमें हुआ। इसका प्रमाण निम्नलिखित श्लोक है—

> कोदण्डे ज्येष्ठनक्षत्रे, मंडंगुडिपुरोद्भवम्।
> चोलोर्व्यां वनमालांशं भक्तपद्रेणुमाश्रये॥

कोदण्ड धनुर्मासका बोधक है। ज्येष्ठा नक्षत्रमें आप—कृष्णपक्षकी चतुर्दशीमें प्रकट हुए। वैदिक शिक्षा प्राप्त करनेसे बाद श्री विप्रनारायणने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया। पहले तो आप विषयलोलुप और स्त्री-सेवापरायण ही रहे। कुछ लोगोंका कहना है कि वे देवदेवी नामक एक गणिकाके मायाजालमें फँस गये। सुदूर अतीतकी बातके लिए आज कोई प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु इस आलवारकी अपनी उक्तियोंसे इतना तो प्रमाणित होता है कि यौवन-सुलभ स्त्रीमोहके शिकार होकर आपने बड़े कष्ट झेले थे। बादमें आपका विवेक जागृत हुआ; पश्चात्तापकी ज्वालामें जलते हुए आपने पूर्व पापोंका प्रायश्चित किया और भगवान् तथा भागवतोंकी सेवामें तत्परतासे जुट गये।

श्री तोंडरडिप्पोडियालवारने भगवान्‌की अर्चामूर्तियोंकी पूजा—उपासनाको प्रथम स्थान दिया। आप 'श्रीरंग' दिव्यक्षेत्र में—यह स्थान वर्तमान कालमें 'तिरुच्चिराप्पल्लि'के नामसे प्रसिद्ध है—भगवान् रंगनाथकी पूजा और सेवामें लगे रहे। आपने तमिलमें रंगनाथकी प्रशंसामें एक सुन्दर सुप्रभात-स्तोत्र लिखा है, जिसका नाम है—'तिरुपल्लियेषुच्चि'। यह दस छन्दोंका एक लघु काव्य है। तोंडरडिप्पोडिने सोचा कि भूलोकमें किसी एक छोटेसे देशके राजाके भी स्तुति-पाठक तथा वन्दी, मागध होते हैं, जो सुप्रभातके गीत गाकर उसे जगाते हैं। रंगनाथ तो सर्वलोकेश्वर हैं। तो फिर इस देवाधिदेवका स्तुतिपाठक बनना कितने गौरवकी बात है, उन्होंने यह भी जान लिया कि रंगनाथ ही परमात्मा हैं। राम, कृष्ण, नरसिंह आदि सभी उन्हींके विविध रूप हैं। वे ही नारायणादि पदवाच्य सर्वेश्वर हैं। इसी भाव से कहा गया है—

तमेव मत्वा पर वासुदेवं
रङ्गेशयं राजवदर्हणीयम्।
प्राबोधिकीं योऽकृतसूक्तिमालां
भक्तांघ्रिरेणुं भगवन्तमीडे॥

तमिलमें भी कहा गया है—

मंडंगुडियेन्बर् मा मरैयोर् मन्नियशीर्।
तोंडरडिप्पोडितोन्नगरम् ॥
वंडुतिणर्त्तवियल् ते न्नरंगत्तम्मानै।
पल्लियुणत्तुँ बिरानुदित्तवूर्॥

श्रीवैष्णव सम्प्रदायके अनुयायी मानते हैं कि जीव तीन प्रकार के होते हैं। पहला वर्ग है बद्ध जीवोंका, जो अनादि कालसे लेकर आजतक संसारके बन्धन-में पड़े हुए हैं। दूसरा वर्ग है मुक्त जीवोंका, जो भगवत्कृपाके कारण सदाचार्यके सम्पर्कमें आकर भक्ति अथवा प्रपत्तिके सफल प्रयोगसे बन्धनका अन्त करके मोक्ष-साम्राज्यको प्राप्त कर चुके हैं। तीसरा वर्ग है नित्य सूरियोंका, जो कभी संसारके बन्धनमें नहीं पड़े, अपितु सर्वदा भगवान् नारायणकी सेवामें ही लगे रहते हैं। वेदमें ऐसे नित्य सूरियोंका वर्णन इन शब्दोंमें किया गया है—तद् विष्णोः परमं पदम्। सदा पश्यन्ति सूरयः। एक नित्यसूरिने ही भगवान्‌की आज्ञासे लोककल्याणके लिए तोंडरडिप्पोडिके रूपमें अवतार किया था। यह श्रीवैष्णवों-की श्रद्धायुक्त मान्यता है। इस अवतारका समय कलियुगके प्रारम्भमें—लगभग

अड़तालीस शताब्दियोंसे पूर्व—एक 'प्रभव' नामक वर्ष माना जाता है। आधुनिक विद्वान् आलवार सन्तोंका प्रादुर्भाव काल ईसाकी पञ्चम शतीके आसपास मानते हैं। आधुनिक विचारोंके अनुसार गणना करें तो भी श्री तोंडरडिप्पोडियालवार-का समय पन्द्रह शताब्दियोंसे पूर्वका ठहरता है।

उसी समय श्री तोंडरडिप्पोडिने इस बातकी घोषणा कर दी कि श्रीरंगके पवित्र क्षेत्रमें अर्चामूर्तिके रूपमें प्रतिष्ठित श्रीरंगनाथ वास्तवमें नारायण ही हैं। वेद-वेदान्तोंमें नारायणको परमात्मा, परब्रह्म, परतत्त्व आदि शब्दोंसे समस्त चेतनाचेतनका अन्तर्यामी ईश्वर कहा गया है। "यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥' नारायणको ही हरि, विष्णु, गोविन्द आदि कई नामोंसे पुकारते हैं। श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अवतार उन्हींके हैं। तिरुपतिके श्रीनिवास, काञ्चीपुरके वरदराज, श्रीरंगके रंगनाथ आदि दिव्य मूर्तियाँ उन्हींके रूप हैं। वे ही समस्त देवताओंके अन्तर्यामी हैं—'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।' विष्णुपुराण आदि ग्रन्थोंमें वर्णित सभी लीलाएँ उन्हींकी हैं। इस प्रकार श्री तोंडरडिप्पोडियालवारने श्री रंगनाथमें परतत्त्वका साक्षात्कार कर लिया। 'तिरुप्पल्लियेपुच्चि' और 'तिरुमालै' आपके दो ग्रन्थरत्न हैं। दोनों ग्रन्थोंमें आपने इसी स्वानुभवसिद्ध सत्यकी स्थापना की है। इस सन्दर्भमें उल्लेखनीय है कि ऐसे ज्ञानसिद्ध आलवारोंकी उक्तियोंका सहारा लेकर श्रीरामानुजाचार्यने अपने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तका प्रचार किया। उपनिषदोंका तात्पर्य क्या है? इस बातका निर्णय करनेमें उन्होंने आलवारोंके वचनोंको मार्गदर्शक प्रमाण माना। अतएव आलवारोंकी रचनाओंको उन्होंने 'द्राविड वेदान्त' कहकर परमादरका स्थान दिया। विष्णुतत्त्वनिर्णयमें इस प्रकार श्री तोंडरडिप्पोडियालवारका योगदान विशिष्ट महत्त्वका है।

'तिरुप्पल्लियेषुच्चि'का पहला पद्य है—

कदिरवन् गुणदिशै शिखरं वंदणैंदान्
कनैयिरुलग्रदु कालैयंपोपुदाय्।
मधुविरिन्दोषुहिन मामलरेल्लाम्
वानवररशर्हल् वन्दुवन्दीण्डि।
रादिर्दिशै निरैन्दनरिवरोडुं पुहुन्द
इरूंगलिट्रोट्टमुं पिडियोडु मुरशुं।
अदिर्दलिललैरुडल् पोन्नुळदेंगुं
अरङ्गत्तम्मा पल्लियेषुन्दरुलाये॥

यह एक प्रकारकी अष्टपदी है जिसे तमिलके छन्द:शास्त्रमें 'एण्शीर् कषि-नेडिलाशिरियवृत्त' की संज्ञा दी गयी है। कवि श्रीरंगनाथको 'अरंगत्तम्मा' कहकर पुकारते हैं। सूर्य प्राची दिशामें उदयाचलकी चोटीपर विराज रहा है। प्रभातका सुहावना समय है। घनघोर अन्धकारका अब अन्त हुआ। इन शब्दोंका सांकेतिक अर्थ है कि अबतक हम मायामोहमें फँसकर अज्ञानके अन्धकारमें भटक रहे थे। अब तो सत्यसंकल्प भगवान्की कृपासे हमें ज्ञानसूर्यकी स्वर्णिम किरणोंका स्निग्ध आलोक प्राप्त हुआ। अब हम ईश्वरोपासनाके मार्गमें अग्रसर हो रहे हैं। सभी सुन्दर पुष्प विकसित हुए हैं और उनसे मकरन्दकी धारा बह रही है। कविने यहाँ 'मधु' शब्दका प्रयोग किया है। 'मधुवाता ऋतायते' आदि छन्दके वाक्य उनके स्मृतिपथमें उतर रहे हैं। 'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।' देवताओंके प्रमुख नेता श्रीरंगनाथके मन्दिरके द्वारपर दर्शनार्थियोंकी श्रेणीमें सम्मिलित हो रहे हैं। उनकी बहुत बड़ी भीड़ हो रही है। हाथी भी बड़ी संख्यामें आकर उपस्थित हुए हैं। उनके चिग्घाड़नेका कर्णभेदी कोलाहल हो रहा है। उसीके साथ मंगलवाद्योंका घोष भी दिशाओंको मुखरित कर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि तरंगमालासे आकुल समुद्र ही उमड़ पड़ा है। हे प्रभो, शय्यासे उठ-कर भक्तोंपर अनुग्रहकी दृष्टि डालिये। कविकी यह प्रार्थना मनोहर काव्यभाषामें प्रकट हुई है।

दूसरे छन्दकी इन पंक्तियोंमें आलवारने विष्णुपुराणके एक प्रसंगको लेकर बताया है कि गजेन्द्रकी रक्षा श्रीरंगनाथकी ही असीम कृपाका फल है—

विषुंगिय मुदलैयिन् पुलंबुरैपेक्ष्वाय्
वेल्ळैयिरुर अदन्विडन्तिनुक्कणुंगि।
अषुंगिय आनैयिनरुंदुयर् कडुत्त
अरंगत्तम्मा पल्लियोषुन्दरुलाये॥

एक वन्य गजेन्द्र प्याससे विकल होकर सरोवरमें पानी पीनेके लिए गया था। वहाँ एक मगरने उसको पकड़ लिया। गजेन्द्रने अपनी पूरी शक्ति लगाकर आत्मरक्षाका प्रयास किया। किन्तु लम्बे संघर्षके बाद स्पष्ट हो गया कि मगर अत्यन्त बलशाली है, उससे अपनी रक्षा करनेके लिए अपनी शक्ति पर्याप्त नहीं है। अब ईश्वरके सिवाय और कोई रक्षक नहीं है। तब गजेन्द्रने भगवान्से प्रार्थना की। भगवान् विष्णु चक्रधारी होकर प्रत्यक्ष हुए। मगरको चक्रसे काटकर गजेन्द्रकी रक्षा की। श्रीवैष्णव आचार्य गजेन्द्ररक्षाके इस प्रसंगको शरणागतिका एक सुन्दर प्रमाण और उदाहरण मानते हैं।

शरणागतिको प्रपत्ति, मरन्यास, भरसमर्पण आदि भी कहते हैं। जब अन्य सभी उपाय विफल हो जाते हैं, तब कार्यसिद्धिका यह एकमात्र सुनिश्चित उपाय ठहरता है। शरणागतिको तभी काममें लाया जा सकता है जब हम उपायान्तर श्रद्धा छोड़कर अनन्यभावसे भगवान्‌को संरक्षकके रूपमें मान लें। उपायान्तर-परित्यागपूर्विका भगवत उपायत्वेन प्रतिपत्तिः शरणागतिः। उपायान्तर-हीनताको कार्पण्य या आकिञ्चन्य कहते हैं। श्रीयमुनाचार्यने स्तोत्ररत्नमें इस विषयको बहुत स्पष्ट किया—

न धर्मनिष्ठोस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्य
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥
अगतिं शरणागतं हरे
कृपया केवलमात्मसात्कुरु॥

गजेन्द्रने भी जबतक आत्मरक्षाके लिए अपनी शक्तिपर भरोसा किया तबतक भगवान्‌की कृपाका पात्र नहीं बना। जब अन्य उपायोंका आदर छोड़कर भगवान्‌को पुकारा तो वह शरणागतवत्सल गजेन्द्रकी रक्षाके लिए दौड़ता हुआ आया। गजेन्द्ररक्षात्वरितं भवन्तं ग्राहैरिवाहं विषयैर्विकृष्टः। श्री वेदान्त-देशिकके ये शब्द हैं। श्री तोंडरडिप्पोडि तो रंगनाथको ही गजेन्द्रके रक्षक विष्णुका अर्चारूप मानते हैं। सुप्रभातके माध्यमसे शरणागतितत्त्वकी व्याख्या करते हैं।

तिरुमालैमें भी आलवारने इस प्रसंगका उल्लेख किया है—

डंबराल् अरियलाहा ओळियुळार् आनैक्काहि।
शेंपुलालुंडु वाषुं मुदलैमेल् शीरिवन्तार्॥
[तिरुमालै—२८]

कविको बड़ा विस्मय है कि कहाँ अवाङ्मनस गोचर परमात्मा और कहाँ यह भयपीडित गजेन्द्र ? परमात्माको तो इन्द्र आदि देवता भी नहीं जानते। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। वही परमात्मा मांसभक्षी मगरके मुँहसे हाथीको बचानेके लिए दौड़ता आया। 'ज्ञानिनामप्यगम्यः' जिसे कहते हैं, वही 'अज्ञानिनापि लभ्यः' हो गया। आज वही भक्त-पराधीन भगवान् श्रीरंगमें उपस्थित होकर कह रहा है कि मेरे पास आओ, मैं तुम्हारी रक्षा करनेके लिए

तैयार हूँ। इन शब्दोंमें आलवारने रंगनाथकी करुणाका उदात्त चित्र प्रस्तुत किया है।

श्रीरामावतारका एक चित्र निम्न पंक्तियोंमें अंकित है—

इलं कैयर् कुलन्तै, वाट्टिय वरिशिलैवानवरेरे।
मामुनि वेळ्वियैक्कात्तु अवभिरथमाट्टिय अडुतिरलयोत्तियेम्मरशे,
अरंगत्तम्मा पल्लियेषुन्द रुलाये॥ [तिरुप्पल्लियेषुच्चि, ४]

राम तो आदर्श धनुर्धारी थे। वाल्मीकिने लिखा है—'यस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे।' जिसका वध करनेकी प्रतिज्ञा रामने की है, उसकी रक्षा ब्रह्मा आदि देवता भी नहीं कर सकते।

वाल्मीकिकी घोषणा है—

ब्रह्मा स्वयंभूः चतुराननो वा रुद्रः त्रिनेत्रः त्रिपुरान्तको वा।
इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा त्रातुं न शक्ता युधि रामवध्यम्॥

लंकाके राक्षस वीर अपनी अजेयताके गर्वमें समस्त संसारकी तृणवत् उपेक्षा कर रहे थे। रामने पहली बार उन्हें भयका अनुभव कराया। राम बाणोंसे आहत होकर राक्षस समझने लगे कि हमें भी दण्ड देनेवाला एक शक्तिशाली वीर यही है। रामने ताड़का, सुबाहु और मारीचसे विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा की। रामकी शक्तिसे ही विश्वामित्र यज्ञको पूर्ण करने 'अवभृथ स्नान' करनेका सुयोग पा सके। यज्ञकी रक्षा करना विष्णुका कर्तव्य ही है। श्रुतिका उद्घोष है—'यज्ञो वै विष्णुः।' यह श्रीराम रंगनाथका ही दूसरा रूप है। तोंडरडिप्पोडियालवार कहते हैं कि हे प्रभो रंगनाथ, त्रेतायुगमें तुम्हीने तो अवतार लेकर रावण आदि आततायियोंका संहार किया। श्रीगोदा देवी (आंडाल)ने भी तिरुप्पावैमें यही कहा था—

शिनत्तिनाल् ते न्निलं कै कोमानैच्चेत्त
मनत्तुविक्कनियानै पाडवुं नी वाय् तिर वाय्।

[तिरुप्पावै, १२]

यहाँ श्रीवैष्णवोंकी परम्परामें प्रसिद्ध एक ऐतिह्यकी चर्चा करना वाञ्छनीय है। अयोध्यामें श्रीरामका पट्टाभिषेक हुआ तो उन्होंने अपने अनुयायियोंको उनकी सेवा और योग्यताके अनुरूप पुरस्कार दिये। लंकाके राजा विभीषणको उन्होंने अपनी कुलक्रमागत एक अर्चामूर्ति (idol) उपहारके रूपमें दी। वाल्मीकिने इस बातका संकेत दिया है—'लब्ध्वा कुलधनं राजा लंकां प्रायाद

विभीषणः' । विभीषण लंकाकी ओर जाते समय श्रीरङ्गमें मूर्तिकी स्थापना करके कावेरीमें सन्ध्या-वन्दन करने लगे । निवृत्त होकर आये तो मूर्तिको वहाँसे उठानेमें असमर्थ हो गये । रामकी अर्चामूर्ति रङ्गनाथ इस प्रकार श्रीरङ्गवासी हो गये । वस्तुतः रामने रङ्गनाथके रूपमें अपनी ही मूर्तिका आराधना किया था—'सह देव्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत्' । आलवारकी उक्तिमें हम इस संकेतको भी पा सकते हैं । आलवारने एक छन्दमें कहा है—

इलं कैयट्कोन् वपिपाडुशेय् कोयिल् एंबेरुमान् पल्लियेषुन्दरुलाये ।
(तिरुप्पल्लि येषुच्चि, ५)

लंकाके राजा विभीषण श्रीरंगके इस मन्दिरमें प्रतिदिन आकर भगवान् रंगनाथकी पूजा करते हैं । यही वास्तवमें 'पेरिय कोयिल्' अर्थात् सबसे बड़ा मन्दिर है । श्रीरंगनाथ ही 'पेरिय पेरुमाल्' यानी सबसे अधिक महत्त्वके देवता हैं । 'एंबेरुमान्' कहकर आलवारने भगवान् और भागवतोंका आत्मीय सम्बन्ध संकेतित किया है । भगवान् हमारे हैं; हम भगवान्के हैं । यह जीव और ईश्वरका नित्य सम्बन्ध है ।

दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः ।
एतेषां नित्यसम्बन्धः केनापि न विहन्यते ॥

कोई शक्ति इस सम्बन्धको नहीं मिटा सकती ।

श्रीरङ्गनाथकी पूजा करनेके लिए सभी देवता और महर्षि अहमहमिकासे—एक दूसरेसे स्पर्धा करते हुए—आते रहते हैं । यक्ष, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर आदि देवजातियाँ हैं । इनमें-से कुछ लोग गानविद्यामें निपुण हैं तो कुछ विविध वाद्योंकी सहायतासे मधुर सङ्गीतकी रसधारा प्रवाहित करते हैं । किन्तु सभी भगवान्के गुणगानमें ही अपनी कलाकी सार्थकता मानते हैं । तुम्बुरु, नारद आदि महर्षि तत्त्वज्ञानी हैं, वेद-वेदान्त पारग हैं । किन्तु वे भी नादब्रह्मकी उपासनामें निरत हैं । आलवार कहते हैं—

अन्तरत्तमरहंळ् कट्टङ्गळि वै यो अरुं तव मुनिवरुं मरुयरुं इवरो ।
इंदिरनानैयुं तानुं वंदिवनो एं बेरुमान् उन् कोयिलिन् वाशल् ॥
सुन्दरर् नेरुक्क विच्चादरर् नूक्क इयक्करुं मयंगिनर् तिरुवडित्तोषुवान् ।
अन्तरं पारिडं इल्लै मट्रिदुवो अरंगत्तम्मा पल्लियेषुन्दरुलाये ॥
(तिरुप्पल्लियेषुच्चि, ७)

अमर-देवता-लोग भीड़ लगाकर द्वार खुलनेकी प्रतीक्षामें हैं । महान् तपस्वी

मुनि लोग भी कतार बाँधकर खड़े हैं। देवराज इन्द्र स्वयं भगवान्‌की सेवा करनेके लिए ऐरावत हाथीको साथ लेकर आ पहुँचे हैं। द्वार खुल गया तो कोलाहल होने लगा। विद्याधर, सुन्दर, यक्ष आदि पहले प्रवेश पानेको लालसामें एक दूसरेको धक्का देने लगे। कोई किसीकी कुछ नहीं सुनता। आलवारने इन शब्दोंमें भगवान्‌की सर्वोपजीव्यता और सर्वसुलभताकी व्यञ्जना की है।

तिरुप्पल्लियेषुच्चिके अन्तमें आलवारने भगवान्‌से प्रार्थना की है कि मुझे अपने भक्तवर्गकी दासता करनेका अवसर दीजिये। भागवतोंके सम्पर्कमें रहकर उनकी सेवा करनेसे ही मेरा जीवन चरितार्थ हो सकता है। अतः मुझे भागवतोंका अनुयायी सेवक बनानेकी कृपा कीजिये। आलवारके शब्द हैं—

तोन्रिय तोळ् तोंडरडिप्पोडियेन्नं, अडियनै अळियनेन्ररुळि
उन्नडियार्‌ंकाट्पडुत्ताय् पल्लियेषुन्दरुलाये।
(वही १०)

इसीको भागवत शेषत्व कहते हैं! श्री वैष्णवोंकी दृष्टिमें यही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। श्री वेदान्त-देशिकने इस भावको संस्कृत शब्दावलीमें व्यक्त किया—'हरिभक्तदास्यरसिकाः परस्परं क्रयविक्रयार्हदशया समिन्धते।' 'परस्परहितैषिणां परिसरेषु मां वर्तय।' हरिभक्त या भागवत हरिसे बढ़कर उपास्य है। उसकी उपेक्षा करके हरिकी पूजा करना भी व्यर्थ है। भागवतोंके सत्संगमें रहना तो मोक्षसे भी अधिक आनन्दका कारण है। इसीलिए आलवारने मोक्षकी इच्छा प्रकट नहीं की। ज्ञान, वैराग्य आदिका भी वरदान नहीं माँगा। ये सब भागवत-सेवाके आनुषंगिक फल हैं। इसी कारणसे श्री वेदान्तदेशिकने भी 'वरदराज-पञ्चाशत्' में कहा—'सत्यं शपे वारण-शैलनाथ, वैकुण्ठवासेपि न मेऽभिलाषः।' 'संसृज्यते यदि च दासजनस्त्वदीयः, संसार एष भगवन्नपवर्ग एव।' भागवत हमारे मार्गदर्शक सखा बनते हैं तो फिर इस संसारमें तथा अपवर्गमें अन्तर ही क्या रह जाता है? 'दुःखालयमशाश्वतम्' आदि कहकर संसारकी निन्दा करते हैं। किन्तु वास्तवमें संसारमें प्रवेश किये बिना मुक्तिको प्राप्त कैसे कर सकते हैं? संसार ही एक प्रकारसे मुक्तिका द्वार है।

अतः श्री देशिक भागवत सम्पर्ककी स्थितिमें संसारको ही मुक्तिका पर्याय मान रहे हैं। आलवार भी इतनी प्रार्थना करते हैं कि मुझे तुम्हारे भक्तोंकी सेवा करनेका अवसर दो। आलवारका नाम भी इसी भावका व्यंजक है—'तोंडरडिप्पोडि।' भक्ति रसमें आकंठ मग्न जीवके लिए मुक्तिका भी कुछ मूल्य नहीं है। उसकी पुष्टिमें तो भक्ति स्वयं एक पुरुषार्थ है। वह साधन नहीं, अपितु साध्य है।

कुलशेखरावतारने 'मुकुन्द-माला'में कहा—'दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो, नरके वा नरकान्तकप्रकामम्। 'अवधीरित-शारदारविन्दौ' 'चरणौ ते मरणेपि चिन्तयामि।' ऐसा भक्त नरकका भी स्वागत करनेको तैयार है, किन्तु वहाँ भी भगवन्नाम-संकीर्तनका अवसर पाकर सन्तुष्ट रह सकता है। यही तो स्वार्थ-निरपेक्ष ईश्वर प्रेमकी पराकाष्ठा है।

आलवारका दूसरा ग्रन्थ है 'तिरुमालै'। इसमें भी रंगनाथकी अनन्य-साधारण महत्ताकी प्रशंसा की गयी है। विशिष्टाद्वैतके प्रवर्तक श्रीरामानुजाचार्य-के जीवनकी एक घटना है कि उन्होंने एक स्त्रीलोल कामुक व्यक्तिको देखा और उसका उद्धार करना चाहा। उन्होंने उस पुरुषको प्रेमसे पास बुलाकर पूछा कि क्या इस प्रकार सबके सामने अपना मोह प्रदर्शित करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं लगती? उस कामीने ईमानदारीसे जवाब दिया कि मैं इस स्त्रीके सौन्दर्यपर मुग्ध हूँ। इसी कारणसे लोकलज्जाका भय छोड़कर मैं इस स्त्रीकी सेवामें लगा हूँ। आप तो महात्मा हैं, आप शायद मुझे नीच, पापी समझकर मेरा तिरस्कार करेंगे। किन्तु मैं सौन्दर्यका भक्त हूँ। आपकी निन्दा या किसी अन्यकी आलोचना-से बचनेके लिए मैं इस सुन्दरीकी उपेक्षा नहीं कर सकता। आचार्यने विचार करके देखा कि इस कामीको सही मार्गपर लानेके लिए एक ही उपाय है। उन्होंने उससे पूछा—'यदि तुम्हें इससे भी अधिक सौन्दर्यके दर्शन करायें तो क्या तुम इस अल्प मोहको छोड़ दोगे?' वह पुरुष तो वास्तवमें सौन्दर्यका उपासक था। वह राजी हो गया। आचार्य उसे मन्दिरमें रंगनाथकी दिव्य सुन्दर मूर्तिके पास ले गये और कहा—'यह देखो, अनुपम लावण्यकी निधि तुम्हारे सामने है। यह सौन्दर्य वासनोत्तेजक नहीं, किन्तु भक्तिवर्धक है। इससे प्रेम कर सको तो तुम्हारा कल्याण होगा।' आचार्यकी कृपासे उस पुरुषका मोह भंग हो गया। वह सच्चा भक्त बनकर भगवान् और भागवतोंकी सेवामें जी-जानसे जुट गया। भगवन्मूर्तिके दिव्य लावण्यकी ऐसी अद्भुत महिमा है। आलवार इस सुन्दर मूर्तिका वर्णन करते हुए कहते हैं कि रंगनाथकी सेवामें जो आनन्द है, वह इन्द्रकी पदवी पाकर त्रिलोकाधिपतिके रूपमें शासन करनेमें भी नहीं मिल सकता। तिरुमालैका दूसरा छन्द है—

पच्चै मामलै पोल् मेनि पवलवाय् कमलच्चेंगण्।
अच्चुता अमरद् एरे आयर् तं कोषुन्दे एन्नुम्॥
इच्चुवै तविर यान् पोय् इंदिरलोकं आलुं।
अच्चुवै पेरिनुं वेंडेन् अरंगमानगरुळाने॥

भगवान्‌की मूर्ति मरकतमणिके पर्वतकी भाँति सुन्दर है। अधरकी मधुरिमा-का क्या वर्णन करें ? प्रवाल ही तमिलमें 'पवल' बन गया है। प्रवालके समान ओष्ठकी कान्ति है। भगवान्‌के नेत्र पुण्डरीकके समान रक्तवर्णसे शोभित हैं। छान्दोग्यका वाक्य है—'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी।' ऐसी मूर्तिकी सेवा करना, बड़े पुण्यका काम है। मैं हाथ जोड़कर भक्तिभावसे पुकारता रहता हूँ—'हे अच्युत, हे देवनायक, हे प्रभो, कृपा करो।' यही मेरे लिए असीम आनन्दकी बात है। नामसंकीर्तनसे मेरी जिह्वा पवित्र होती है। नामोंके अर्थपर विचार करनेसे मन अमृतरसके आस्वादसे भर जाता है। इसके स्थानपर यदि कोई मुझे इन्द्रलोकका शासन करनेका अधिकार भी दे दे, तो मैं उसे ग्रहण नहीं करना चाहता।

नचिकेताने यमराजसे कहा था कि मुझे घोड़े, रथ आदिकी भौतिक सम्पदा नहीं चाहिए। मुझे तो आत्मतत्त्व जाननेकी उत्कट इच्छा है। नचिकेताकी स्थिरताको देखकर यमराज प्रसन्न हुए और तत्त्वोपदेश दिया। उसी प्रकार आलवार भी स्वर्ग आदि समस्त भोगोंसे विरक्त और विमुख होकर रंगनाथकी सेवामें ही आनन्द पाते हैं। यही वैराग्यका सच्चा स्वरूप है। 'यो नित्यमच्युतपदाम्बुजयुग्म-रुक्मव्यामोहनस्तदितराणि तृणाय मेने।' धनका मोह छोड़ना कठिन है। किन्तु श्रेष्ठ धनके लोभमें अन्य धनको छोड़ना सम्भव है, आवश्यक भी है। अल्पका त्याग करनेपर ही श्रेष्ठकी प्राप्ति हो सकती है। ऐहिक और आमुष्मिक भोग अल्प हैं; क्षणभंगुर हैं, दुःखमिश्रित हैं, असार हैं। भगवद्भक्तिका आनन्द श्रेष्ठ है, शाश्वत है, दुःखसे सर्वथा मुक्त है और सारतम है। ऐसे महालाभके लिए अन्य भोगोंकी उपेक्षा करना ही वैराग्य है। आलवारने इस छन्दमें अपने ऐसे ही सुविचारित वैराग्यकी प्रतिज्ञाको व्यक्त किया है।

इस छन्दमें आलवारने रंगनाथको 'आयर् तं कोषुन्दे' कहा है। इसका अर्थ है कि तुम ही गोपकुलके बालक हो। श्रीरामकी तरह श्रीकृष्ण भी तुम्हारा ही रूप है। बालकृष्णके रूपमें मनोहर लीलाएँ तुम्हींने कीं। यशोदानन्दन, नव-नीत चोर, दामोदर, वेणुगानविशारद और रासक्रीडाविलासी तो तुम ही हो। मथुराके संरक्षक, कंसान्तक, द्वारकाके प्रतिष्ठापक और भारतकी जटिल राजनीतिके सफल कर्णधार तुम्हीं हो। गीताके आचार्य, महान् तत्त्ववेत्ता, योगेश्वर और प्रपन्नार्ति-निवारक भी तुम ही हो। आलवारने राम, कृष्ण, वराह, वामन आदि रूपोंको रंगनाथकी दिव्य विभूतिका विस्तार मात्र माना है। 'एकमेवेदं परमं तत्त्वमाहुः, नाना रूपाण्यस्य पृथगामनन्ति।'

ईश्वर एक ही है। 'एका शास्ता, न द्वितीयोऽस्ति शास्ता।'' ''एकमेवाद्वितीयम्।'' अतः आलवार ने हितैषी होकर उपदेश दिया है—

> अट्रुमोर् देय्वमुंडे, मतियिला मानिडं गाल्।
> उट्र पोदन्रि नींगल् ओरुवने न्नुणरमाट्टीर्॥
> अट्रमेलोन्ररियोर् अवनल्लाल् देय्वमिल्लै।
> कट्रिनंमेय्त्त एंदे कर्षालिनैप्पणिमिन् नीरे॥

तिरुमालै—१]

देवता-रहस्यको न जाननेवाले मूर्खो! तुम्हारो रायमें देव कितने हैं? गोपालके रूपमें अवतार लेकर जिसने समस्त लोकका कल्याण किया, क्या उससे भिन्न कोई दूसरा देवता भी है? तुम क्यों नहीं समझते कि सर्वेश्वर एक ही है! तुम्हें शायद यह विश्वास नहीं है। तुम्हारा मन शंकाग्रस्त है, तो मेरी बातपर विश्वास करो। मैं तुम्हारे हितके लिए शपथ लेकर सत्यकी घोषणा कर रहा हूं। अवनल्लाल् देय्वमिल्लै उस श्रीकृष्णके सिवाय दूसरा कोई देवता नहीं है। गीता-माहात्म्यमें कहा गया है—'एको देवो देवकीपुत्र एव।' देवकीका पुत्र ही एकमात्र देवता है। उसकी गीता ही एकमात्र शास्त्र है। उसका नाम ही एकमात्र मन्त्र है। उसकी पूजा ही एकमात्र कर्तव्य कर्म है। अतः उसीको सर्वकमसमाराध्य, सर्वफलप्रदायक तथा सर्वविध बन्धु समझो। त्वमेव माता च पिता त्वमेव। गाय चरानेवाले उस परम पिताके चरणोंकी शरणमें जाओ। तब तुम्हारा उद्धार अवश्य होगा। तुम्हारे अतीतकी चिन्ता वह नहीं करता। प्रार्थनामात्रसे प्रसन्न होकर तुम्हारी कामनाका पूर्ण करता है।' इन शब्दोंमें आलवार हमें उज्जीवनका मार्ग बताते हैं। यहां किसीको यह शंका हो सकती है कि कृष्ण तो द्वापरमें हुए। आज हम उनका आश्रय कैसे ले सकते हैं? आलवारका उत्तर है कि द्वापरके कृष्ण ही आजके रंगनाथ हैं। तत्त्व एक ही है, किन्तु बाहरी रूपभेदके कारण नामभेदका व्यवहार चल रहा है। जिनकी दृष्टि पारमार्थिक है, वे इस अन्तर्निहित एकत्वको पहचान सकते हैं। एकेश्वरवादका कैसा व्यावहारिक प्रतिपादन है।

आलवारने एक छन्दमें बड़ी कृतज्ञताके भावसे बताया है कि मैं तो आरम्भमें विषय-तृष्णाका शिकार बना था। स्त्री-सुखकी प्राप्तिके लिए मैंने जघन्य अपराध किये। अज्ञान और स्वार्थ-भ्रमके कारण पाप-पंकमें धँस गया था। तभी श्री रंगनाथने मुझपर कृपा करके मेरे मन और बुद्धिका संस्कार किया। मुझे पाप-कूपसे ऊपर उठाकर सन्मार्गमें आगे बढ़नेकी प्रेरणा दी। अब मैं पूर्वके पापोंके

लिए पछताकर उनके प्रायश्चित्तके रूपमें भगवान्के चरणारविन्दोंकी सेवामें तत्परतासे लग रहा हूँ। ईश्वरकी ऐसी करुणाको याद करके सदा कृतज्ञ रहता हूँ। आलवारने कहा—

शूतनाय्कळ्वनाहि धूर्तरोडिशैंदकालं।
मादरार् कयर्कणेन्नु वलैयुळ्पट्टषुन्दुवेळै॥
पोदरेयेन्नु शोल्लिपुंदियुळ् पुहुंदु तन्पाळ्।
आदरं पेरुकवैत्त अषहनूर् अरंगमन्रे॥

[तिरुमालै—१६]

पहले तो मैं जुआरी था। द्यूतके लिए धन चाहिए तो चोरी करके धन कमाता था—'भ्रष्टस्य कान्या गतिः ?' ऐसे ही साथी मेरो मदद करते थे। धूर्त, कपटी, वञ्चक, नीच, पापी और दुष्ट मेरे सहधर्मी, सहकर्मी साथी थे। मैं किसी नारीके मोहमें फँसा था। उनके शरीर-विक्रयसे जीवन-निर्वाह करनेवाली वारांगनाओंके कटाक्षरूपी पाशमें बँधकर उन्हींका क्रीतदास बना हुआ था। तब रंगनाथने मेरी बुद्धिमें प्रवेश करके पाप-वासनाको उखाड़ फेंका और अपने दिव्य सौन्दर्यसे मुझे अपनी ओर आकृष्ट किया। ऐसे सहज दयाके धनी भगवान्का उपकार मैं कैसे भूल सकता हूँ ? आलवारने इसी कृतज्ञताके कारण मंडंगुडिको छोड़ दिया और श्रीरंग-क्षेत्रमें नित्यवास करने लगे।

रंगनाथकी मूर्ति शयन-मुद्रासे सुशोभित है। अन्य मन्दिरोंमें भगवान्की मूर्ति खड़ी रहती है। इसे 'निन्र तिरुक्कोलम्' कहते हैं। किन्तु रंगनाथ 'पल्लिकोंड तिरुक्कोलम्' [निद्रा या शयनकी स्थितिमें]में दर्शन दे रहे हैं। आलवारने इस विशिष्ट स्थितिका वर्णन निम्नांकित छन्दमें किया है—

कुडदिशै मुडियै वैत्तुक् कुणदिशै पादं नीट्टि।
वड दिशैप् पिन्बु काट्टित्तेन् दिशै इलंकैनोक्कि॥
कडल् निरक्क डबुळैंदे अरवणैत्तुयिलुमा कंडु।
उड लेनकुक्कुरुडुमालो एन्शेय्हेन् उलहत्तीरे॥

[तिरुमालै—१९]

भगवान् रंगनाथका दिव्य मंगल विग्रह 'आदिशेष' रूपी पर्यंकपर सुख-निद्राकी स्थितिमें दृष्टिगोचर होता है। उसका सिर पश्चिमकी दिशामें है। चरण पूर्वकी ओर हैं। उत्तरकी ओर पीठ करके दक्षिणकी लंकाकी ओर—शायद विभीषणपर अनुग्रह करनेके लिए—दृष्टिपात करते हुए भगवान् शयन कर रहे हैं। समुद्रके समान इस विग्रह (शरीर)का वर्ण है। भगवान्की निद्राका क्या तात्पर्य

है ? 'जगद्रक्षणजागर्यां योगनिद्रामुपाकुरु।' यह इन्द्रिय-श्रमसे उत्पन्न भौतिक निद्रा नहीं है। यह तो लोकरक्षणकी मुद्रा है, योगनिद्रा है। ऐसे दिव्य रूपको देखकर आलवारका मन द्रवित हो जाता है। वे लोगोंसे पूछते हैं—'अब मैं क्या करूँ ? तुमपर तो इस सौन्दर्यका कोई प्रभाव नहीं दीखता। तुम स्वस्थ हो किन्तु मैं प्रकृतिस्थ नहीं हो पा रहा हूँ। यह क्या रहस्य है ?

गीतामें कहा है कि समस्त प्राणियोंके लिए जो निशा है, उसमें योगी पुरुष जागता रहता है। जब अन्य प्राणी निद्राको छोड़कर जागते हैं तब यह योगी नहीं जागता; उस समयको निशा मानता है—

या निशा सर्वभूतानां
यस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि
सा निशा पश्यतो मुनेः॥

संयमी, मुनि, योगी आदि शब्दोंको हम यहाँ समानार्थक मानते हैं। यही ज्ञानी पुरुष है जो मायारूप जगत्को निशा मानकर उसकी उपेक्षा करता है। सांसारिक विषयोंमें जागरूक नहीं रहता। किन्तु परमार्थके विषयमें जागता है। लोकके प्राणी तो परमार्थको जानते ही नहीं। वह उनके लिए निशा है, निद्राका विषय है। उसी प्रकार आलवार भगवान्को जानते हैं, साक्षात्कार करते हैं तो वे द्रवित, रोमांचित और प्रभावित होते हैं। हम जैसे पामर लोग तो भगवान्को नहीं देखते; तो ऐसे अपूर्व अनुभवसे तथा विलक्षण आनन्दसे वञ्चित ही रह जाते हैं।

श्रीरामने सागरतरणके लिए सेतु निर्माण किया था। तब हनुमान् आदि वानरवीर बड़े-बड़े पर्वतोंकी चोटियोंसे बड़ी-बड़ी चट्टानें उठाकर लाये और सेतु-निर्माणके कार्यमें योगदान दिया। वे तो शक्तिशाली वीर थे। पत्थर लुढ़काना उनके लिए बायें हाथका खेल था। उस समय सागरतीरवासी एक गिलहरीने सोचा कि श्रीरामकी सेवा करनेका ऐसा स्वर्णिम अवसर फिर कहाँ मिलेगा ? मुझे भी इस अवसरका लाभ उठाना चाहिए। लेकिन मैं क्या सेवा कर सकती हूँ ? मेरी शक्ति तो अत्यल्प है। फिर भी अपनी योग्यताके अनुसार मुझे सेवामें प्रवृत्त होना चाहिए। यह सोचकर उस गिलहरीने एक अच्छा उपाय किया। वह समुद्रकी लहरके पास जाकर बैठी तो उसका शरीर पानीसे भींग गया। तब रेतीपर लोटने लगी तो रेतके कुछ कण उसके शरीरपर लग गये। अब वह गिलहरी खुशीसे सेतुके पथपर जाकर शरीरसे रेतके कणोंको गिराने लगी।

किसीने उसकी इस सेवाका महत्त्व नहीं समझा। कुछ वानरोंने अपनी महान् सेवाके गर्वमें गिलहरीका उपहास भी किया होगा। फिर भी गिलहरीने अपना काम नहीं छोड़ा। श्रीराम तो सर्वदर्शी हैं। उन्होंने गिलहरीकी सेवाको महत्त्व दिया; उसकी पीठपर हाथ फेरकर अभिनन्दन किया। आज भी गिलहरियोंकी पीठपर रामकी उँगलियोंके निशान बने हुए हैं। भावुक भक्तोंकी कल्पनामें इस रम्य कथाका जन्म हुआ है। वाल्मीकिने रामायणमें इसका उल्लेख नहीं किया तो क्या ? श्री तोंडरडिप्पोडियालवारने तिरुमालैके एक छन्दमें इसकी चर्चा की है। आलवारका वचन हमारे लिए प्रमाण है। उन्होंने लिखा—

कुरंगुहल् मलैयैन्तूवक कुलिन्तुतां पुरंडिट्टोडि।
नरंगनार डैक्कलुट्टयलमिला अणिलुं पोलेन्॥
मरंगल्पोल् वलियनेंज वंचनेन् नेंजुतन्नाल्।
अरंनना क्कोट् शेय्यादे अलियत्तेन् अयाकित्रे ने॥

[तिरुमालै—२७]

वानर तो पहाड़ोंको उठा लाये, गिलहरीने रेतके कणोंसे ही सेतु-बन्धनमें सहायता की। निष्कपट हृदयसे उसने सेवा की तो प्रेमैकपरतन्त्र ईश्वरने उसे स्वीकार किया। मैंने इतना भी नहीं किया। अपनी शक्तिके अनुसार भगवान्‌की सेवा करनेके स्थानपर, लोकमें ख्याति पानेके लिए वञ्चनासे काम किया। भक्ति-का बाह्य वेष धारण किया, किन्तु अन्तरंगमें भक्तिका लवलेश नहीं है। अब विपत्तिके क्षणोंमें 'हाय-हाय' कर रहा हूँ। इन शब्दोंमें आलवारने अपनी आन्तरिक वेदनाको प्रकट किया है।

श्री वेदान्तदेशिकने एक स्तोत्र में कहा है—'सेवापेक्षा तव चरणयोः श्रेयसे कस्य न स्यात् ?' तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा ही पर्याप्त है। उसीसे प्रसन्न होकर परमेश्वर वाञ्छित श्रेय प्रदान करेगा। हमारी सेवासे पूर्णकाम परमात्माको क्या लाभ होगा ? सेवाकी इच्छा प्रेमका—भक्तिका प्रमाण है। इस प्रेमसे ही ईश्वर वशमें हो जाता है। भागवतकी यशोदा और रामायणकी शबरी दोनोंने प्रेमसे ही भगवान्‌को वशवर्ती बनाया। गिलहरीका वृत्तान्त भी इसी बातका निदर्शन है।

श्रीवैष्णव संप्रदायके आचार्य आलवारोंके पदोंको उपनिषद्‌का ही एक नवीन रूपान्तर मानते हैं। अतः विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तकी परम्परामें श्री तोंडरडिप्पो-डियालवारका स्थान परमादरणीय है। उनकी सरल, प्रसन्न और गम्भीर सूक्तियाँ आजके युगमें भी मार्गदर्शक और प्रेरणाप्रद हैं।

●

'मामनुस्मर युद्धयच'का मनोविज्ञान

श्री इन्द्रपाल सचदेव

'मामनुस्मर युद्धयच' अर्थात् तू सब समय मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर' में जीवन जीनेकी सर्वोत्कृष्ट कलाका रहस्य छिपा है। इस सूत्रमें सूक्ष्म एवं सारगर्भित मनोविज्ञान निहित है जिसके आधारपर जीवनकी समस्याओं, और चुनौतियोंका डटकर वीरतापूर्वक सामना किया जा सकता है। वास्तवमें जीवनकी विभिन्न समस्याओं, कठिनाइयों, प्रश्नों आदिका समाधान करनेकी यह एक सूक्ष्म व्यवाहारिक एवं मनोवैज्ञानिक विधि है! इस विधिको सम्यक् रीतिसे समझ-कर उसके अनुरूप अपने जीवनको यदि ढालनेका प्रयास सच्चाईसे किया जाय तो कोई भी व्यक्ति जीवन कलाको पूर्णताका अनुभव कर सकता है। इस अनुभूतिके फलस्वरूप व्यक्तिके जीवनमें आमूल क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकता है और वह अपनी अनुभूति-के आधारपर कह सकता है कि मन चिन्ता करनेके लिए नहीं भगवत्-चिन्तन करनेके लिए मिला है। जोवन दुःखी रहनेके लिए नहीं बल्कि सर्वश्रेष्ठ रसकी अनुभूति करनेके लिए मिला है। जीवन हाय-हाय करनेके लिए नहीं, वाह-वाह करनेके लिए मिला है, जीवन रोनेके लिए नहीं, स्वयं हँसने ओर दूसरोंको हँसानेके लिए मिला है। व्यक्ति मानवताके उच्चतम स्तरपर पहुँचकर इस मनस्तरंगको अपने जीवनमें साकार करता है।

खुश रहना, खुश रखना,
जीना और जिलाना
नाथ! मेरे जीवनका बस
यहो तो एक गाना

स्मरण और संग्रामका समन्वय

श्री भगवान्ने 'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च' (८.७)में यह अनुमान-वाक्य रख दिया है कि तू नित्य मेरा स्मरण करते हुए युद्ध कर अथवा जीवन संग्राममें जूझ। संग्राम संग्राममें जूझनेका अभिप्राय है कि परिवार एवं समाजके प्रति अपने कर्तव्योंका पूरी ईमानदारी एवं निष्ठासे पालन करना। अपने माता-पिताकी सेवा करना अपने बाल-बच्चोंको पढ़ाना-लिखाना दफ्तर अथवा दूकानका काम कुशलतापूर्वक करना। तात्पर्य

यह है कि प्रातःसे सायंतक अपने अभीष्ट क्रिया-कलापोंमें तत्परतासे जुटे रहना। जीवन-संग्राममें जूझना घोर प्रवृत्तिका मार्ग है। इस प्रवृत्तिका निवृत्तिसे समन्वय कैसा ? एक ही साथ प्रवृत्ति एवं निवृत्तिका होना अर्थात् दो परस्पर विरोधी दीखनेवाले कार्योंका होना, तर्क तथा मनोविज्ञानकी दृष्टिमें असम्भाव्य-सा प्रतीत होता है। तब यह कैसे सम्भव है कि शरीरसे सांसारिक कार्य हो और मनमें भगवान्‌की चिन्तन-धारा भी प्रवाहित होती रहे। किन्तु यह सब सम्भव है दृढ़ता-पूर्वक अभ्यास करनेसे अथवा पूर्ण-संकल्पके साथ आदत डालनेसे। जिस चीजके प्रति हमारा विशेष आकर्षण होगा, प्रेम होगा उसका चिन्तन स्वतः स्वभावतः और प्रतिक्षण होगा। इस सन्दर्भमें जिस तरह लोभी व्यक्तिको अहर्निश हर समय पैसेकी तृष्णा बनी रहती है तथा कामातुर व्यक्ति प्रतिक्षण स्त्रीका स्मरण करता है। इसीके साथ वे लोभी और कामी अपने-अपने नियमित कार्योंका सम्पादन भी करते ही हैं। इसी प्रकार हर कार्य-के साथ भगवच्चिन्तन भी किया जा सकता है। यह बात सर्वथा व्याव-हारिक एवं अनुभवगम्य है। इस सम्बन्धमें महात्मा गाँधीका जीवन एक परिनिष्ठित दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। वह 'तू नित्य मेरा स्मरण कर, युद्ध भी कर'के अनुरूप बोलो राम, करो काम'की जीती-जागती प्रतिमा थे। गाँन्धीजी लिखते हैं 'मैं यदि भाषण देता हूँ, अनेक व्यक्तियोंसे बात करता हूँ, चर्खा चलाता हूँ अथवा कोई भी कार्य करता हूँ, मेरे अन्दर अविराम हर क्षण राम-नामकी ध्वनि निकलती रहती है। महात्माजीसे प्रश्न करनेपर कि आप ऐसा करनेमें समर्थ कैसे होते हैं। उनका निश्चित उत्तर है—'अभ्याससे।'

अध्यात्म-नित्य

जब दृढ़ अभ्याससे भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन सहज स्वाभाविक होने लगता है तब उसी स्थितिको अनुस्मरण करते हैं। जो बुद्धि ऐसा अनुस्मरण करने लगती है और जिसकी दृष्टि जगत्‌को देखते हुए भी सदैव जगदीश पर रहती है वही वास्तवमें पूर्णतया स्वस्थ बुद्धि है। बुद्धिकी पूर्णतया विकसित अवस्थाको—जहाँ स्वस्थ बुद्धि एवं स्वस्थ हृदयका समन्वय होता—गीतामें अध्यात्मनित्य शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। क्या संसारमें क्षण-क्षणमें बदलनेवाले प्रपञ्च-में रहते मनुष्य ईश्वरमें हर घड़ी रह सकता है ? गीता १५.५ अध्यात्म-नित्यके शब्द द्वारा इसका उत्तर निश्चयात्मक हाँ में देती है। ईश्वरकी नित्य-निरन्तर मधुर स्मृति बनी रहे, यही प्रभुमें रहना है। 'अध्यात्मनित्य' कोरी मनोवैज्ञानिक कल्पना मात्र नहीं

है बल्कि वह पूर्ण व्यावहारिक एवं अनुभूत सत्य है। यह जीवनकी उच्चतम भूमि है, व्यक्तित्व विकासकी चरम सीमा और जीनेकी कलाकी चरम परिणति है।

गीताके सूक्ष्म विश्लेषणके आधारपर यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति सच्ची शान्तिका अनुभव तभी कर सकता है जब वह मान, मोह और संगदोषसे पूर्णतया विनिर्मुक्त हो। वास्तवमें यह तीनों एक दूसरेके साथी हैं और आगे-पीछे चलकर मनुष्यको अपने मायापाशमें आवद्ध कर लेते हैं। जीवनमें सच्ची शान्तिका अनुभव करनेके लिए मनुष्यका निष्काम होना अत्यावश्यक है। मनुष्यको अपने भीतर सुख नहीं मिलता तो वह सुखको तलाश करनेके लिए बाहर दौड़ता है और फलस्वरूप अपनेमें हीनताका अनुभव करने लगता है। 'विनिवृत्त काम' (अर्थात् सम्पूर्ण कल्पनाओंकी निवृत्ति)के फलस्वरूप व्यक्तिपर सुख-दुःखका प्रभाव नहीं पड़ता। इन कामनाओंकी निवृत्तिका सबसे व्यावहारिक एवं सरल उपाय है 'अध्यात्म-नित्य।' अध्यात्मनित्यकी स्थिति कठिन और दुस्साध्य अवश्य है किन्तु उसका फल भी तो उतना महान् है और यही जीवनका परम पुरुषार्थ है। हम जीवनके इस प्राप्तव्य लक्ष्यकी क्यों अपेक्षा करते हैं अथवा भूल जाते हैं।

इसके मूलमें हमारा अज्ञान है। इस दृष्टिसे अज्ञानके स्वरूपको मूलतः समझना आवश्यक प्रतीत होता है।

अज्ञानका स्वरूप (दार्शनिक पृष्ठभूमि)

भारतीय दर्शनकी दृष्टिसे अज्ञानका स्वरूप यह है कि जो कुछ हमें मिला है वह अपना नहीं है और जिससे मिला है वह अपना है। इस वास्तविकताको भूलकर हम करते क्या हैं कि जो कुछ हमें मिला है उससे मोह करते रहते हैं और जिससे मिला है उसे भूल जाते हैं। जीवनमें जो मूलभूल है, जो अन्य सब मुसीबतों, समस्याओं और कष्टोंका आरम्भ-बिन्दु है, वह है अपने परमाधार परमात्मासे विमुख होना और उसे भूलकर असत्, परिवर्तनशील जगत्के साथ तल्लीन या लिप्त हो उठना। उस सतहको भूलकर हम निस्सार सुखोंके रागी बनते हैं। धनके लोभी, सम्बन्धियोंके मोही, पदाधिकारके अभिमानी बनते हैं। जीवनमें जितने मनोविकार उत्पन्न होते हैं, वह इस भूलभूत सत्यको भूलनेसे ही होते हैं।

भूलकी भेंट :

हमारे शास्त्रोंमें संसारको कुरुक्षेत्र अथवा धर्मक्षेत्रका रूपक दिया गया है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक योद्धा है। जिसे युद्ध तो करना ही पड़ता है चाहे वह चाहे अथवा न चाहे। मनुष्यको

हर समय सत् और असत्के बीच, बुद्धि और मनके बीच श्रेय और प्रेयके बीच, दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदाके बीच युद्ध करना पड़ता है। संसारमें रहते समय व्यक्तिको विषम परिस्थितियों एवं कठिन समस्याओंका सामना तो करना ही पड़ता है किन्तु व्यक्तिसे मूलतः भूल यह होती है कि व्यक्ति जगत्पतिको भूलकर जगत्की वस्तु - व्यक्ति- परिस्थितियोंसे मोहित, आकर्षित या भयभीत हो जाता है। जिस अनुपातमें राग, भय, क्रोध उसके व्यक्तित्वको आक्रान्त करते हैं उसी अनुपातमें उसकी मानसिक शक्तिका अपव्यय होता है और कर्मक्षेत्रमें उसकी कार्य-कुशलताका ह्रास होता है और वह जीवन-संग्राममें सफल नहीं हो पाता। इस तरह इस मौलिक भूलकी भेंटमें उसके जीवनका अमूल्य समय एवं जीवनी-शक्ति बहुत कुछ अपव्यय होती रहती है। इस मौलिक भूलको मिटानेके लिए—'वीतराग-भय क्रोध की अनुभूति करनेके लिए मामनुस्मर युद्धय च' एक सर्वोत्तम मनोवैज्ञानिक विधि है।

हमारे चिन्तनमें भ्रामक धारणा यह है कि हमने अचिन्त्यको नित्य मान लिया है। मुख्य चिन्त्य तो परमात्मा है जो संसारके मूलमें है, उसका चिन्तन नहीं संसारी पदार्थोंका चिन्तन किया जाता है, इसलिए सुख-शान्तिका अनुभव नहीं होता। वास्तवमें संसार-सेवा करनेकी वस्तु है, चिन्तन करनेकी नहीं। चिन्तन उन्हींका करना चाहिए जिन्हें प्राप्त करना है एवं जिनका प्रेम अपना जीवन है। जिससे छुटकारा पाना है उसकी सेवा करनी चाहिए।

सारे दोषों, विकारोंका मूल है अज्ञान, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति विषय-चिन्तनमें फँसता है। विषय-चिन्तन अथवा संसार-चिन्तनसे व्यक्तिका चित्त अशान्त और अस्वस्थ होता है और जीवनका बहुत बड़ा भाग व्यर्थ चिन्तनमें चला जाता है। इस अमूल्य समय एवं जीवनी-शक्तिके दुरुपयोग एवं अपव्ययको रोकनेके लिए हमें चिन्तनकी धाराको मनके भीतर-ही-भीतर विपरीत दिशामें बदलना होगा। हमें चिन्तनके अकाट्य सिद्धान्तके अनुसार चिन्तनको चिन्तनसे ही काटना होगा। जीवनमें कार्य कुशलता और मानसिक दक्षताकी दृष्टिसे सार्थक चिन्तन एवं सत्-चिन्तन ही उपयोगी है और असत्-चिन्तन सर्वथा त्याज्य है। वैयर्थ्यमूलक चिन्तनके जीवनसे पूर्ण निरासके लिए व्यर्थ चिन्तनके मूल स्रोतोंकी अवगति अत्यावश्यक है। केवल इसीसे उसका अशेष निरोध हो सकता है। अतः व्यर्थ चिन्तनके मूल कारणोंको जानना परम वाञ्छनीय है।

व्यर्थ चिन्तन होनेके तीन मुख्य कारण हैं।

१. सबसे प्रमुख कारण है कि संसारके प्रति (अथवा वस्तु, व्यर्थ परिस्थितिके प्रति) जितनी हमारी महत्त्व बुद्धि अधिक होगी और भगवान्के प्रति महत्त्व बुद्धि जितनी कम होगी उतना व्यर्थ चिन्तन होगा। इसके विपरीत यदि भगवान्के प्रति महत्त्व बुद्धि सर्वोत्कृष्ट होगी और संसारके प्रति महत्त्व समाप्त हो जायेगा तो व्यर्थ चिन्तन बहुत कम हो जायेगा और अन्तमें समाप्त हो जायगा। वास्तवमें चिन्तन विशेष रूपसे उसका होता है जिसके प्रति हमारा विशेष प्रेम, आकर्षण और महत्त्व बुद्धि अथवा द्वेष होता है।

२. राग-द्वेषके कारण भी व्यर्थ चिन्तन होता है। यदि व्यक्ति सबके प्रति हित-चिन्तन करनेवाला बन जाये, किसीके प्रति लेशमात्र भी अहित भावना न रहे तो व्यर्थ चिन्तन बन्द हो जायगा। (कर्तव्यके क्षेत्रमें कुछ भी हो—जरूरत पड़नेपर भी की जा सकती है और मारा जा सकता है किन्तु अन्दर से पर-हितकी भावना पूर्ण हो बाहरके युद्धकी अपेक्षा अन्दरका युद्ध, अन्दर क्या हो रहा है—यह ज्यादा आवश्यक है)।

३. कर्मफलकी इच्छासे भी व्यर्थ चिन्तन होता है—यदि फलका चिन्तन होगा तो व्यर्थ चिन्तन अवश्य होगा।

इससे स्पष्ट है कि व्यर्थ चिन्तनके इन मूल स्रोतोंको बन्द करना होगा ताकि यह विकार जिनसे मानसिक शक्तिका—अपव्यय हो रहा है, जड़से खतम हो जाय। इस सन्दर्भमें विषयोंको सुखकी प्राप्तिका भ्रम जब-तक बना रहेगा तबतक विषय-चिन्तन और फलस्वरूप व्यर्थ चिन्तन होता रहेगा। भगवान्का चिन्तन सहज, स्वाभाविक तभी बनेगा जब कि विषयोंमें सुखसे यह भ्रम हमारे मनसे सर्वथा निकल जायगा और जब यह पक्का निश्चय हो जाय कि सुख तो एकमात्र श्रीभगवान्में है। यह दुहरी दुराशा ही हमारे व्यर्थ चिन्तनका मुख्य कारण है। एक ओर तो हम भगवान्को एकमात्र सुख—सच्चे सुखका स्रोत नहीं समझते और दूसरी ओर सांसारिक विषय ही सुखके कारण हैं—यह भ्रम पालते रहते हैं।

इसके आधार यह मूल सिद्धान्त हैं कि यह चित्त जिस-जिसका चिन्तन करता है उसके गुणोंको ग्रहण करता हुआ उसीमें आसक्तिको प्राप्त करता है।

गीतामें कहा है 'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते' अर्थात् विषय - चिन्तनसे विषयासक्तिपूर्वक विकारोंकी वृद्धि होती है। जैसे बीज पानीसे उगता है वैसे वासना विषयोंके चिन्तनसे उगती है और प्रबल होती है। मनुष्यका मन स्वाभाविक पाँच

प्रकारके विषयोंका चिन्तन करता रहता है। जिस प्रकार जलका प्रवाह नीचेकी ओर रहता है उसी प्रकार मन भी स्वतः विषयोंका चिन्तन करनेमें सुखका अनुभव करता है।

गीतामें उसका साथ-ही-साथ उपाय बताया गया है 'मामनुस्मरता सतम् मयेय्व प्रविलीयते' और मेरा चिन्तन जो करता है वह होते-होते कालान्तरमें समस्त दुर्गुणोंसे मुक्त होकर मेरे ही गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है। भगवत्-स्मरणसे भगवत्-गुण स्वतः आने लगते हैं। भगवत्-स्मरण हो और भगवद्-गुण न आये यह असम्भव एवं व्याघातक बात प्रतीत होती है।

मनकी विषय-चिन्तनकी स्वाभाविक गतिको रोकनेके लिए ईश्वर-चिन्तन ही एकमात्र उपाय है। इसलिए मनको निरन्तर भगवच्चिन्तनका स्वभाव बनानेकी आवश्यकता है। इसके लिए अभ्यासके प्रियात्मक रूप हैं 'तू नित्य मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर' उस अभ्यासकी सार्थकता यह है कि जो चित्त वस्तुमय, व्यक्तिमय, परिवारमय, धनमय, जडमय घन-रूप है, वह प्रभुमय हो जाय।

भगवत्-विस्मृतिका परिणाम

सूक्ष्म विवेचनके आधारपर हमारे शास्त्रोंका यह निश्चित और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है कि भगवान्को एक क्षणके लिए भूलना भी सम्पूर्ण दोषोंका बीज है और क्षण भरके लिए भगवत्-विस्मरणको जड़ता, मूर्खता और अन्धता कहा गया है। यदि इस पृष्ठ-भूमिमें हम सूक्ष्मतासे विचार करें कि हम चौवीस घण्टोंमें कितना विस्मरण करते हैं और फिर इस आधारपर वर्षोंका एवं सारी आयुका हिसाब लगावें तो हमारी मूर्खता और जड़ता बेहिसाब है। इसके मूलमें वास्तविक तथ्य यह है कि जब ही हम भगवान्को भूलते हैं वैसे ही हमपर संसारका कुप्रभाव पड़ता है और हम संसारके रागी-द्वेषी बनते हैं इसके विपरीत यदि अभ्यास द्वारा भगवान्की नित्य सतत स्मृति बनी रहे तो संसारका हमपर प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसीलिए हमारे शास्त्रोंमें यह कहा गया है भगवत्-स्मृति ही सच्ची सम्पत्ति है और भगवत्-विस्मृति ही सच्ची विपत्ति है। गीताने घोर व्यवहारमें रहते हुए भी व्यक्ति इस भगवत्-विस्मृतिरूपी विपत्तिसे बचा रहे—'मामनुस्मर युद्धय च'के सूत्रको दिया है जिसमें भक्ति और कर्मका अद्भुत समन्वय है।

कर्म और भक्तिका समन्वय

प्राय. लोगोंमें ऐसी धारणा पायी जाती है कि जिस समय भक्ति होगी उस समय कर्म नहीं हो सकता और जिस समय कर्म होगा उस समय भक्ति

नहीं हो सकती। इस प्रकार लोगोंने ईश्वरको मन्दिरोंमें बन्द कर दिया है। बाहर कर्मक्षेत्रमें वह कहीं दिखायी नहीं पड़ता। गीताने विभाजनकी इस दीवारको गिरा दिया। गीता जिस भक्तिका प्रतिपादन करती है उसके अनुसार व्यर्थकी भक्तिके लिए मन्दिर या गिरजाघर जानेकी जरूरत नहीं। जो जहाँ बैठा है वहीं परमेश्वरका अनवरत स्मरण कर सकता है। आवश्यकता मात्र इतनी ही है कि वह अपने प्रत्येक कार्यका सम्बन्ध बराबर परमेश्वरके साथ बनाये रखे। हम अपने घरमें एवं घरके बाहर प्रतिदिन अनेक स्त्री-पुरुषोंके सम्पर्कमें आते हैं, गीताकी दृष्टिसे भक्तिका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌को सबमें व्यापक मानकर हम अपने सम्पर्कमें आनेवाले सभी स्त्री-पुरुषोंकी सेवा करें—उदारता-पूर्वक सहायता करें तो यही ईश्वरार्पण कर्म होगा। जिसने इस जगत्‌को पैदा किया है उसकी अपने कर्म द्वारा पूजा कर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर सकता है। केवल कर्म द्वारा परमेश्वर-की पूजा, होती है, यही नहीं बल्कि सम्पूर्ण दैनिक व्यवहार परमेश्वरकी पूजा स्मरण या भक्ति बन सकता है। इस भक्तिका अर्थ कर गीताने भक्ति और कर्मके भेदको—विरोधको मिटा दिया है। गीताकी यह अपूर्व देन और नित्य-नूतन सन्देश है।

गीतामें न कोई कर्मका उपदेश है और न ही कोरी भक्तिका। गीता भक्तिमय कर्म या कर्म-प्रधान भक्तिके सन्देशको लेकर उपस्थित हुई है। कार्य कठिन और शुष्क था, भक्ति विलासमात्र और निष्क्रिय थी। गीताने दोनोंका गठबन्धन करके कर्मको सरस और सुगम बना दिया दिया है तथा भक्तिको सक्रिय और सार्थक। कर्मसे भक्ति और भक्तिसे कर्ममें पूर्णता आती है। कर्म भक्तिका रूप ले सके उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कर्म और भावके सम्बन्धको समझा जाय।

कर्म और भाव

हमारी समस्त प्रवृत्तियों और क्रियाओंके मूल प्रवर्तक भाव हैं और यह भाव अनन्त शक्तिके स्रोत हैं। इन्हीं भावोंके संगठनसे हमारे विशेष प्रकारके दृष्टिकोण, स्वभाव, आदतों और चरित्रका निर्माण होता है। कर्मकी श्रेष्ठता व कनिष्ठता वस्तुतः कर्मपर नहीं, अपितु कर्मगत भावनापर आश्रित है। भावनाकी शुद्धता-अशु-द्धताके कारण ब्राह्मणका कार्य करते हुए भी एक व्यक्ति पामर हो सकता है और दूसरा कोई मांस-विक्रेता तुलाधार जैसा समाजमें प्रतिष्ठित हो सकता है। कर्मका नहीं, उसके पीछे जो भाव है, उसका अधिक महत्त्व है। मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक विकास-की दृष्टिसे यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं कि आप क्या काम कर रहे हैं।

इसकी अपेक्षा यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण है ? कि किस भावसे यह काम कर रहे हैं क्याकी अपेक्षा क्योंका प्रथम अधिक महत्त्व रहता है।

शुद्ध और सात्त्विक भावनासे किया गया स्वधर्म चाहे वह फावड़ा चलाना हो, कलाका काम हो, शाक-सब्जी बेचना हो अथवा दुकानदारी करता हो योग, युक्ति व कलाकी पदवी प्राप्त कर लेता है। यदि कोई मनुष्य केवल कर्तव्य भावनासे समाज-सेवाका कार्य करे तो भक्तिकी परिधिमें आजायेगा। स्वधर्म और सेवामें—सांसारिक और आध्यात्मिक कर्ममें—अज्ञानवश जो भेद खड़ा किया गया है गीता उसे ढा देना चाहती है। रात-दिनके चौबीस घण्टोंके व्यवहारको आध्यात्मिक बना देनेकी विशेष युक्ति या कला गीता बताती है। 'योगः कर्मसु कौशलम्'। स्वधर्म-पालन करनेकी दो दृष्टियाँ या भावनाएँ हैं—उदरपूर्ति और लोकसंग्रह। स्वधर्मको जो उदरपूर्तिका साधन बनाता है, वह वेतन-भोगी है। जो इसे लोक-हित (सेवा)का साधन बनाता है वह परमार्थी है। कार्य दोनोंका एक समान हो सकता है किन्तु सिर्फ भावना-भेदसे एकका कर्म सेवा है और दूसरेका स्वार्थ। एक साधु है और दूसरा सिरसे पैरतक संसारी। गीताके शब्दोंमें एक योगी है, दूसरा भोगी। भावना बदलते ही स्वधर्मका रूप-रंग सर्वथा बदल जाता है। यह युक्ति है, भावनाको व्यापक बनानेकी, उदरपूर्तिके स्थानपर यथार्थं लोक-हितार्थं, समाज कल्याणार्थं अथवा जनार्दनके मंगलके भावसे स्वधर्म (अपना व्यवसाय) करनेकी। इस भावनाके बदलते ही मामूली धन्धेका मूल्य सौ गुना बढ़ जाता है। स्वधर्म ही सेवा या ईश्वरोपासनाका रूप धारण कर लेता है। मामूली कर्म भी अभिमन्त्रित हो जाता है। इसलिए उपदेश यही है कि उदरपूर्तिके लिए नहीं बल्कि यज्ञार्थं, समाज-हित या जन-कल्याणकी भावनासे स्वधर्म-पालन किया जाये। यही वह कुशलता है या युक्ति है जो कर्मको कलाका रूप दे सकती है। लोक-हितकी भावना जितनी परिपुष्ट होती जाती है, स्वधर्म (चाहे वह किसी कारणका कर्म हो) उतना ही श्लाघ्य, श्रद्धास्पद और पूजा-रूप होता जाता है। गीताकी दृष्टिसे यही उत्कृष्ट कला है। यही आध्यात्मिक प्रगति एवं यही उपासना है। जरा-सी दृष्टि सुधारसे एक दुनिया-दार मुनि या योगी हो सकता है।

गीतामें अनन्यभावसे कर्म करनेका सबसे अधिक महत्त्व है। अनन्यभावसे कर्म और भक्तिका अद्भुत मेल है। परमेश्वरका अनन्यचिन्तन करनेवाला व्यक्ति मनसा, वाचा, कर्मणा, त्रिधा सिद्ध हो जाता है। अनन्यभावसे कर्म करनेसे, कर्म करते अथवा कर्त्तव्य-

पालन करनेको शक्ति बढ़ती है और फलकी चिन्ता छूटती है और परमेश्वरका प्रेम मिलता है। परमेश्वरका प्रेम पीकर मन निजानन्दमें तल्लीन हो जाता है और विषयोंके पीछे नहीं भागता। अनन्यमनसे कर्म करनेसे दैवी सहायता मिलती है और परमेश्वरके योगसे मनुष्यकी सर्वतोमुखी उन्नतिमें सहायक होती है। सार रूपमें यह कहा जा सकता है कि कुशलता कर्ममें नहीं, करनेमें नहीं वल्कि वह तो वस्तुतः कर्तृत्व-भावके अशेष परिहारमें है।

प्रत्येक कार्य करनेमें बुद्धिमान् कर्त्तापनको काट देता है। यह दृष्टि ही वास्तवमें कार्यकुशलता एवं जीवनकी कला है। प्रज्ञाका सार तो यह है कि 'मैं नहीं कर रहा हूँ, कोई करवा रहा है'।

कर्म-फल त्याग

भक्ति और कर्मके समन्वयके लिए गीताने ईश्वरार्पण कर्म अथवा कर्मफल त्यागके सूत्रका प्रयोग किया है। सिर्फ कर्म ही नहीं बल्कि कर्मका सार जो उसका फल है, उसे परमेश्वरको अर्पण करना है। फलको न फेंकना है, न नष्ट करना है, बल्कि कर्मफलको ईश्वरको समर्पित करना है। सब कुछ उसीका है और उसीको देना है—परिणाम होगा निश्चिन्तता एवं पूर्ण शान्ति। जितने भी स्त्री-पुरुष हैं सब मानव-रूपधारी परमेश्वरकी जीवित मूर्तियाँ हैं। इन रूपोंमें जनता-जनार्दनकी सेवा और हितमें अपने कर्म-फलको सौंप देना है। प्रत्येक कर्मका सम्बन्ध ईश्वरके साथ जोड़ देनेसे—नित्य-कर्म पूजामय बन जाते हैं और परमेश्वरके साथ सम्बन्ध होनेसे जीवनका प्रत्येक कर्म महान् हो जाता है। इस प्रकार सब कर्म ईश्वरार्पण होनेसे अथवा ईश्वरके प्रीत्यर्थ होनेसे भक्ति-रूप हो जाते हैं।

फल-त्यागका फल

१. कर्ममें उत्साह

उत्साह केवल फलकी ममतासे नहीं, कर्मकी भावनासे उत्पन्न होता है। वास्तवमें कर्तव्य-भावनासे उत्पन्न उत्साह ही सच्चा उत्साह है। इसके लिए मनुष्यकी कर्तव्य-बुद्धि विकसित होनी चाहिए।

२. चित्तशुद्धि

फल-त्यागपूर्वक कर्म करनेसे दूषित विचारों और वासनाओंका धीरे-धीरे क्षय होता है और शुभ संस्कारोंका उदय होता है, जिसका अन्तिम परिणाम एवं महान् फल चित्त-शुद्धि है। चित्तशुद्धि ही मोक्ष है जो मानव जीवनका परम पुरुषार्थ है।

३. कर्ममें उत्कृष्टता

कर्ममें कुशलताके लिए उत्साह

विशेष रूपसे आवश्यक है। यह उत्साह फलकी लालसा या लोभसे उत्पन्न नहीं होना चाहिए बल्कि, उत्साहके मूलमें करुणा, प्रेम, त्याग अपने सुखका वलिदान प्रतिज्ञा-पालन आदि उत्कृष्ट भाव भी होते हैं। वास्तवमें जिन महिमामय कर्मोंका महत्त्व युग-युग बढ़ता ही जाता है, उनके मूलमें यह उत्कृष्ट भाव ही होते हैं, न कि स्वार्थ और लोभ। सारांश यह कि फलकी लालसासे कर्मका सब कौशल लोप हो जाता है और फल-त्यागपूर्वक कर्म करनेसे कर्ममें श्रेष्ठता और उत्कृष्टता आती है।

सिद्धि-असिद्धिमें समता

प्रत्येक कार्यमें सिद्धि मिलना आवश्यक नहीं है। विजयके साथ पराजय भी लगी रहती है। असफलता-में जहाँ सामान्य व्यक्ति निराश और हतोत्साह हो जाता है वहाँ फलत्यागी प्रभुकी इच्छा समझ सन्तुष्ट रहता है। इसलिए 'सन्तुष्टः सततं योगी' वह हारमें, जीतमें सब अवस्थाओंमें सन्तुष्ट रहता है।

शान्ति

फलमें जितना ही चिपटो उतनी ही चिन्ता। जबतक लोभ, तबतक क्षोभ अनिवार्य है। लोभके साथ-साथ भय-क्रोध-आशंका आदि दुर्भावनाएँ हृदयमें आजाती हैं। श्रेयार्थी फलकी लालसा छोड़नेमें सब चिन्ताओंसे मुक्त हो जाता है और परम शान्तिका अनुभव करता है। इसलिए गीताका अमूल्य सन्देश है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा
फलेषु कदाचन।

ब्रह्मरूपता

सेवा-परायण व्यक्तिकी आत्मा विशालसे विशालतर होती जाती है। विशालतम (बृहत्तम) आत्माको ब्रह्म-रूप कहना चाहिए। जीवनकी यही धन्यता है, कृत्यकृत्यता है।

सत् चिन्तन और उसका प्रभाव

मनुष्यकी विशेषता या श्रेष्ठता वस्तुतः विचार-शक्तिमें है। विचार सहज और निरन्तर क्रिया है जो जागृतावस्थाके अतिरिक्त कभी-कभी निद्रा एवं स्वप्नमें भी होती है। इस दृष्टिसे मनुष्यको यदि ठीक (स्वस्थ) करना हो तो सर्व प्रथम उसके विचार करनेके ढंगको ठीक करना चाहिए। यह विचार बदलना ही वास्तवमें सत्संग है। विचार बदलनेसे समान परिस्थितियोंमें हमारी प्रतिक्रिया बदल जाती है। फलतः हमारा अनुभव बदल जाता है—स्वभाव बदल जाता है—एक नया व्यक्ति बन जाता है।

अब प्रश्न यह है कि विचारका विषय यदि अस्थायी या परिवर्तनशील अथवा देश-कालावधि है तो ऐसा

विचार हर समय काम नहीं दे सकता। सब कालोंमें, सब अवस्थाओंमें हमें उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसा विचार असत्-विचारकी श्रेणीमें आ जाता है। असत्-विचार ही विषय है। इसके विपरीत सत्-विचार क्या है? इसका एकमात्र निश्चित उत्तर है—'भगवत्-स्मरण'। क्योंकि भगवत्-विचार श्रेष्ठ है—सत् है। कालसे बाधित नहीं हैं। न था न होगा—कालातीत है। स्थलकी दूरीसे मतलब नहीं कारणसे भी परे है। इन कारणोंसे यदि विचार करना ही है तो भगवत्-विचारसे ही कल्याण हो सकता है।

मनुष्यको श्रेष्ठता जैसे विचारसे है वैसी ही कर्मसे भी है। क्योंकि कर्म ही सेवा है। अब प्रश्न तो यह है कि सबमें बढ़िया सेवा कैसे हो? इसका स्पष्ट उत्तर है—भगवत्-स्मरणसे। क्योंकि समस्त सृष्टि भगवान्को है। इसलिए भगवान्को समझनेसे सहज सेवा होगी।

फल

१. भगवत्-स्मरणसे, प्रेमसे सेवा, उदारता पूर्वक सेवा, हितकर सेवा सहज स्वाभाविक होने लगता है।

२. सद (अविनाशी) वस्तुके चिन्तनसे स्थिरता और स्थिति आ जाती है। इसके विपरीत अस्थायी वस्तु अथवा जगत्-विषयका चिन्तन करनेसे मनकी चञ्चलता और बढ़ती है।

३. भगवत् गुण आने लगते हैं।

४. दुःखोंकी निवृत्ति होती है।

५. भगवती शक्तिका सञ्चार होता है।

६. समाजके लिए सबके प्रति प्रेम, भगवत्-चिन्तनसे भगवन्नुसे प्रेम, भगवत् प्रेमसे भगवान्की सृष्टिसे प्रेम, सबसे प्रेम।

७. लाभका प्रलोभन, हानिका भय—इन दोनोंसे मुक्ति हो जाती है।

८. भगवत्-चिन्तनसे भगवत् स्वरूप—जगत् व स्वरूप और अपने वास्तविक स्वरूपके परस्पर सम्बन्धका बोध हो जाता है।

९. अनन्य भावका विकास होता है—फलस्वरूप समस्त दुर्गुणोंसे मुक्त होकर प्रभुके गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है।

१०. चिन्तन-अभ्यासकी सार्थकतासे चित्त प्रभुमय हो जाता है। जिसको फल अक्षय परमानन्दकी प्राप्ति होती है। इसलिए यदि हम सच्चे सुखको चाहते हैं तो चित्तके द्वारा निरन्तर भगवान्का चिन्तन, ध्यान करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

संसार (विषय)-चिन्तन और उसका प्रभाव

साधारण व्यक्ति अपना बहुत-सा समय संसार-चिन्तनमें व्यतीत करते हैं। सामान्यता संसार-चिन्तन अथवा असत्-चिन्तन या विषय-चिन्तनके

अन्तर्गत वस्तु, व्यक्ति, परिस्थितिका चिन्तन आता है। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे इस प्रकारके चिन्तनके परिणामपर विचार किया जाय, तीन सम्भावनाएँ पायी जाती हैं।

पहली यदि वस्तु या व्यक्ति या परिस्थिति नष्ट होती है तो शोक होता है।

दूसरी यदि चाहनेपर (इच्छित वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिमें) नहीं मिलते तो शोक होता है।

तीसरे यदि अभीष्ट वस्तु चाहनेपर मिल जाती है तो राग अथवा मोह होता है।

हर दृष्टिसे इसमें जीवनमें पतन होता है। वास्तवमें इनका चिन्तन असत्-चिन्तन है जो कि विजातीय है। इसके चिन्तनसे, इनकी चाहसे चित्त शुद्ध होता है।

वास्तविकता यह है वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति न केवल अपने नहीं हैं बल्कि अपने लिए भी नहीं है। यह सदुपयोग अथवा सेवा करनेका साधन सामग्री है और दाताका देन है। हमें यह मिले हुए हैं। मिलना इस बातके प्रति है कि छूटेगा अवश्य अथवा नहीं रहेगा चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल। उसके चिन्तनसे हमारी बहुत-सी मानसिक शक्तिका अपव्यय होता है और हम व्यर्थ चिन्तनसे आवद्ध हो जाते हैं। जीवनका वास्तविक कलाकार तो वह है जिसे वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति-विशेषके छूटनेसे किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो। जब भी छूटे—उसे दुःख स्पर्श न कर सके।

अब सार रूपमें देखें कि वस्तु, व्यक्ति, परिस्थितिके चिन्तनका क्या-क्या प्रभाव पड़ता है ?

१. शक्तिका ह्रास होता है।
२. समयका दुरुपयोग होता है।
३. शोक, भय, मोह, राग इत्यादिकी उत्पत्ति होती है।
४. इनकी प्रतीति है, प्राप्ति नहीं है।
५. इष्टको अप्रसन्नता है।

निष्कर्ष

ऊपरके विवेचन-अन्वय व्यतिरेकसे यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवत्-स्मरण मानसिक स्वास्थ्यको उत्कृष्टतम रखता है और उसके कारण हमारा मनोबल एवं आत्मबल बहुत बढ़ जाता है। इस स्थितिमें हम जगत्को किसी प्रकारके व्यामोह, आसक्ति या भयके बिना उसकी यथार्थतामें देखते हैं। जगत्की विषम परिस्थितिका हमपर किसी प्रकारका कुप्रभाव नहीं पड़ता और उनके प्रति हमारी प्रतिक्रियाएँ विवेक-संगत और औचित्यपूर्ण होती है। मनीषी वस्तुतः वही है जिसकी प्रवृत्ति सामान्यतः क्रियाकी ओर तो होती है पर प्रतिक्रियाकी ओर नहीं होती।

कुछ क्षण वह अपलक रोगीकी ओर ताकता रहा और कुछ खोया-सा उसकी अवस्थापर मनन करता रहा। ग्लूकोज रोगीके शरीरमें पहुँचाया जा चुका था। किन्तु उससे विशेष लाभ न पहुँचा था। शरीरसे रक्त काफी बह चुका था। डाक्टरने रोगीकी नब्ज देखी। परीक्षण-नलीसे उसके शरीरको परखा। तत्पश्चात् उसने शरीरका तापमान लिया और रक्तचाप मालूम किया। डाक्टरके चेहरेकी गम्भीरता कुछ कम पड़ी। सम्भवतः रोगीके बचनेकी उसे उम्मीद हो आयी। उसने नर्सको आदेश दिया, 'नर्स इसका ब्लड टेस्ट लो। खूनकी काफी कमी है।'

डाक्टर अन्य रोगियोंकी ओर मुड़ा। उनका हाल-हवाल जाननेके बाद कुछ देर परीक्षणके पश्चात् वह पुनः लौटा। नर्स प्रतीक्षामें खड़ी थी। डाक्टरके पहुँचते ही उसने बतलाया 'बी थर्ड है, डाक्टर।'

रोगीके शरीरमें रक्त पहुँचाया गया। रक्तका संचरण आरम्भ हुआ। रोगीके म्लान चेहरेपर कुछ आभा झलक आयी। उसके अंग-अंगमें एक नये बलका संचार हो रहा था। किन्तु अभीतक चेतना न लौटी थी। रात काफी हो चुकी थी। जीवनकी विषमताओंके विविध घुमावों, उलझनों और संघर्षोंसे पराजित एक व्यक्तिने जीवनका मोह त्याग देना चाहा। किन्तु यह निर्मम संसार कदाचित् उसका मोह न त्याग सका। पुनः उसे जीवन प्रदान करनेका प्रयास किया जा रहा था—पहलेसे भी अधिक दयनीय दशा सौंपनेके लिए।

किसी प्रकार रात्रिका आवरण हटा और रोगीके जीवनका मध्यान्तर समाप्त हुआ। करीब आठ बज चुके थे। प्रभातकी किरणोंने खिड़कीके अन्दर झाँकना आरम्भ कर दिया। रोगीकी चेतना लौट चुकी थी। उसने धीरे-धीरे अपनी आँखें खोलीं। आँख खुलते ही वह अवाक् रह गया। एक नया अपरिचित संसार उसके सामने था। प्रारम्भिक क्षणोंमें उसे ऐसा लगा, मानो वह कोई स्वप्न देख रहा हो।

उसने अपने आस-पासके पलंगोंपर पड़े मरीजोंपर एक दृष्टि डाली। उसे विश्वास न हुआ। नेत्रोंको अच्छी तरह मला और अर्ध-चेतनावस्थामें सोचनेका प्रयास करने लगा कि वह कहाँ आ पहुँचा है। अपने शरीर, मन एवं मस्तिष्ककी अस्वस्थता उसे बराबर अनुभव हो रही थी। कुछ क्षणों बाद अनुमान लगाने योग्य हुआ कि वह किसी अस्पतालमें है। वह कुछ आश्वस्त हुआ। आज वह एक पलंगपर लेटा है और आज उसकी शय्या पथरीली धरती नहीं, वरन् मुलायम गद्देदार सेज है। उसके चारों ओर दीवार है और ऊपर एक छत।

तत्पश्चात् उसने अपने कपड़ोंपर एक दृष्टि दौड़ायी। आज एक लम्बे अरसेके पश्चात् स्वयंको उजले-धुले वस्त्रोंमें पा उसके नेत्र प्रसन्नतासे चमक उठे। उसे यह अनुभूति बड़ी सुखद प्रतीत हुई। सम्भवत: आज कई वर्षोंके बाद उसे किसी घरके-से वातावरणमें विश्राम करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इन्हीं विचारोंकी उधेड़बुनमें अनायास ही एक दीर्घ नि:श्वास उसके मुँहसे फूट पड़ा—

'यहाँ.......मेरी....लाशको.........कफन........तो मिलेगा ?'

अचानक नर्सने उसकी विचार-निद्राको तोड़ा, 'कैसी तबियत है अब ? आप बहुत जल्दी अच्छे हो जायँगे।'

'अच्छा होकर भी क्या करूँगा ?'

'किन्तु यहाँ तो लोग अच्छा होने आते हैं।'

'लेकिन मैं तो यहीं मरना चाहता हूँ। बस, मुझे और कुछ नहीं चाहिए।'

'अच्छा, छोड़ो इन बातोंको।' नर्सने ऐसी बातोंको टालते हुए उसके शरीरका परीक्षण आरम्भ किया। शरीरका तापमान लिया और एक खुराक दवा पिलाकर चली गयी।

रोगी पुन: पूर्वकी-सी गम्भीर अवस्थामें खो गया। सूने भावसे और निश्चेष्ट मन: स्थितिमें वह अपनी दशापर विचार करने लगा। उसने उठकर बैठनेका प्रयास किया, किन्तु दर्दने साथ न दिया और वह पुन: लेट गया। इसी बीच किसी ऊँची एड़ीवाले जूतोंकी आवाज उसके कानोंमें भनकी। उसने देखा, एक नर्स उसीकी ओर आ रही थी। पहुँचते ही उसने पूछा, दवा पी ली आपने ?'

'हाँ' फिर कुछ रुककर, 'आप नयी नर्स मालूम पड़ती हैं।' बोला।

'जी हाँ पहली नर्सकी ड्यूटी बदल गयी है। अब मैं आया करूँगी।' अचानक जैसे भूला हुआ, उसे कुछ याद आगया। 'अरे हाँ, एक बात तो मैं बताना ही भूल गयी। एक लड़की आपको पूछ रही थी। आपके लिए यह मौसम्मी दे गयी है।'

लड़की !.......मौसम्मी !.......यह क्या कह रही हैं आप ? मैं एक फुटपाथ पर रहनेवाला.......मेरा तो 'इस संसारमें कोई नहीं।'

'हो सकता है, आप भूल गये हों !'

'किन्तु वह है कौन ? मुझसे मिलने क्यों नहीं आयी ?'

'उसने केवल इतना कहा कि अच्छा हो जानेपर आपसे मिलेगी। अबतक वह किसी कारणवश आपसे नहीं मिल सकी।'

कुछ सोचते हुए, 'हो सकता है। मुझे कुछ याद नहीं आ रहा है।'

'हाँ तो यह मौसम्मी काट दूँ।'

'नहीं नर्स………नहीं………यह किसीके प्रेमकी निशानी है।………इसपर छुरी मत चलाओ।'

नर्स मुस्कराती हुई मौसम्मी उसके हाथमें थमाकर चली गयी और वह सोचनेका प्रयत्न करने लगा। वह कौन हो सकती है? वह काफी देरतक भूली हुई यादोंको ताजा करनेमें लगा रहा। धीरे-धीरे विस्मृतिकी परतें उठने लगीं और कुछ धुंधली-सी स्मृति-रेखाएँ कुछ-कुछ स्पष्ट-सी होने लगीं। उसे याद हो आया………।

आजसे करीब चार साल पहले उसके जीवनमें किसीने प्रवेश किया था। उस समय वह एक दफ्तरमें नौकरी करता था। वहीं वह भी नौकरी करती थी। दोनोंमें घनिष्ठ मित्रता स्थापित हो चुकी थी। किन्तु अचानक वह इसी बीच बीमार पड़ गया और जब वह स्वस्थ होकर लौटा तो उसका कहीं पता न चला। काफी दिनोंकी खोज और परिश्रमके बाद भी कुछ हाथ न लगा। बस, इतना ही उसे याद है। हो सकता है, दीर्घकालके पश्चात् अपनी भूल प्रतीत होनेपर उसे खोजते-खोजते वही यहाँ पहुँची हो, उसे यह अनुमान बड़ा सुखद प्रतीत हुआ। उसे लगा, उसका भी संसारमें कोई है जिसे वह अपना कह सकता है, जिसके लिए वह मर सकता है और जिसके लिए वह जी सकता है। जीवनके लिए एक नयी कामना उसके अन्तरमें सुलगने लगी। नयी-नयी कल्पनाएँ जगने लगीं और उसे एक नवीन शक्ति प्रदान करने लगी। वह एक मधुर कल्पना, एक मोहक नशेमें डूब गया। आज उसे जीवनमें किसीके प्रेमका अवलम्ब मिला। उसे नित्य जीवनके लिए नयी स्फूर्ति और उत्साह मिला।

वह नित्य आती और ऊषाकी प्रथम रश्मिकी भाँति उसका मन पुलकित कर जाती। नये जीवनकी नयी योजनाएँ बनतीं। शारीरिक व मानसिक स्थिति धीरे-धीरे बल पाने लगी।

दीर्घ अनशनसे जर्जर शरीरमें इस प्रकाशका मानसिक खाद्य या नयी शक्तिका सञ्चार होने लगा। पिछले जीवनके कड़वे और विषैले अनुभव एक-एक करके विलीन होने लगे और सहस्रों नये स्वप्न उसके नेत्रोंमें तैरने लगे। अस्पतालका वातावरण, जो एक व्यक्तिके अन्तरमें भावी मृत्यु-कम्पन भर देता है, उसके अन्तरमें जीवनी शक्ति लगा भरने।

स्वास्थ्यके लक्षण स्पष्ट होने लगे थे। किन्तु उसकी अधीरता दिन-प्रतिदिन तीव्र होती जा रही थी। वह अपने नये संसारके साथीके दर्शनके लिए व्याकुल था। वह नयी आशा और उत्सुकताके साथ उसी क्षणकी प्रतीक्षामें था। कभी सोचता, वह अब कितनी बदल गयी होगी! एकाएक दीर्घकालके बादके मिलनेपर किस प्रकार बातोंका श्रीगणेश होगा। वह अवश्य अपनी भूलोंपर पश्चात्ताप कर रही होगी। सम्भवतः उसके सामने उसे झिझक भी होगी। किन्तु वह उसे कुछ न कहेगा। उसे पहलेकी ही भाँति मिलेगा ताकि उसे अपनी भूलोंका अहसास न हो। कभी सोचता, हो सकता है, उसके सामने कुछ मज-बूरियाँ रही होंगी जिसे वह पार न कर सकी हो। इन्हीं विचारोंमें वह दिन बिता दिया करता। आखिर अन्तिम दिन भी आपहुँचा। उसे पूर्ण स्वस्थ होनेकी सूचना मिल गयी। अस्पतालसे उसकी विदाईका समय आगया। नित्यकी भाँति आज भी वह आयी और मरीजके स्वस्थ होनेकी सूचना पाकर उसकी प्रसन्नताकी सीमा न रही। वह वार्डके बाहर खड़ी अधीरतासे रोगीकी प्रतीक्षा करती रही। रोगीकी इन्तजारकी घड़ियाँ समाप्त हुईं। वह अपने जीवनके अवलम्बकी ओर लपका। दोनोंने एक दूसरेको देखा और देखते ही अवाक् रह गये। दोनों कुछ प्रश्न भरी दृष्टिसे नर्सकी ओर देखने लगे। नर्सने परिचय कराया किन्तु वह होशमें नहीं था। अन्तमें नर्सने लड़कीसे पूछा, 'क्यों क्या बात है। तुम चुप क्यों हो?

'वह तो कोई और है'। उसने उत्तर दिया।

'तो तुम्हारा पेशेण्ट कौन है'?

'वही, जिन्हें कैंसर हो गया था'।

'क्या नाम था उनका'?

'केशो'।

'बेड नम्बर'?

'नौ'।

नर्सको केशोका स्मरण हो आया। वह उसे क्या जवाब दे? उसकी समझमें कुछ नहीं आया। किन्तु दोनोंकी असीम व्याकुलताको वह अधिक देर तक सहन न कर सकी। उसके प्राणहीन शब्द फूट ही पड़े; 'केशो तो कभीका चल बसा।' लड़कीके हृदयपर बिजली-सी गिरी। एक जोरकी चीख निकली और वह भागी जा रही था। उस अस्पतालसे दूर जो उसके केशोको निगल गया था।

●

मानसिक प्रवृत्तियाँ और हमारा स्वास्थ्य

स्व० श्रीरामकुमार भुवालका
(भूतपूर्व संसद सदस्य)

महान् विचारक स्वामी भास्करानन्दने कहा है कि हमारे मन एवं शरीरका पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही है जैसा अश्व एवं उसके द्वारा खींचे जानेवाले रथमें। जिस प्रकार अश्वकी विभिन्न गतियों एवं चालोंका प्रभाव रथके विविध अंगोंपर पड़ता है, उसी प्रकार मनकी गतियोंका शरीरपर। पाश्चात्य प्राकृतिक चिकित्सक जेम्स हाकने भी प्रकारान्तरसे इसी तथ्यका समर्थन करते हुए मनको मोटरका इंजन एवं शरीरको बॉडी माना है। स्वस्थ शब्द अर्थ ही अपनेमें स्थित रहना है।

मन एवं शरीरका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि जिस प्रकार अनेक शारीरिक व्याधियाँ मन एवं मास्तष्कको प्रभावित करती हैं उसी प्रकार मनकी विकृतियाँ शरीरको प्रभावित करती हैं। उदाहरणके लिए यदि शरीरके किसी अंग, विशेषकर सिरमें यदि पीड़ा होती है तो मन-मिजाज चिड़चिड़ा हो जाता है। यही नहीं हम दैनिक जीवनमें नित्य देखते हैं कि भयसे शरीर काँपने लगता है, चेहरा पीला पड़ जाता है, हर्षके क्षणोंमें दिलकी धड़कनें बढ़ जाती हैं और उत्तेजनामें रोमांच हो जाता है। छोटे बालक तो अक्सर अत्यधिक भयसे पेशाब भी कर देते हैं। किसीके साथ यदि अत्यधिक वाद-विवाद हो जाता है तो क्रोधके साथ-साथ बेहोश भी हो जाते हैं और लिखते समय अक्षर विकृत भी हो जाते हैं।

मिलनेवाले बन्धु जब मुझसे पूछते हैं कि आपका स्वास्थ्य कैसा है? मेरा उत्तर बराबर यही रहता है 'आप स्वास्थ्यकी बात न पूछकर मनकी बात पूछिये कि मन ठीक रहता है?' प्राकृतिक एवं होम्योपैथिक चिकित्सा पद्धतिमें भी रोगकी चिकित्सामें पहले रोगीकी मानसिक स्थितिकी जाँच कर ली जाती है और समस्त मनःस्थिति जान लेनेपर ही चिकित्सा की जाती है। लेकिन आजकी बहु प्रचलित चिकित्सा-प्रणाली एलोपैथीमें डाक्टर केवल अपनी बुद्धिके बलपर हृदय, पीठ, आँख, जीभ आदिकी जाँच करके निर्णय करते हैं और रक्त, थूक, मल एवं मूत्रकी परीक्षाके बाद रिर्पोट मिलनेपर नुस्खे लिख देते हैं। यदि लिखी हुई दवाओंमें बाजारमें कोई सुलभ न हुई तो दूसरी दवा लिख दी जाती है। दवाका रोगीपर असर हो

या नहीं, इसकी जिम्मेदारी डाक्टरपर नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदासने 'रामचरित मानस'के उत्तराकाण्डमें मानसिक रोगों एवं शारीरिक व्याधियोंका अत्यन्त सूक्ष्म एवं पूर्ण वैज्ञानिक ढंगसे वर्णन किया है। अभी हाल हीमें मैंने सुयोग्य चिकित्सक डा० पद्म सिंघवीका विचार इसी विचार धारापर पढ़ा। उन्होंने अपने गम्भीर चिन्तन और अनुभवोंसे लोकहितकी बात अत्यन्त सरलतासे कही है। आजके इस तनाव भरे वातावरणमें स्वस्थ रहनेके लिए यह आवश्यक है कि हम अपनेको तनावों एवं कुण्ठाओंसे मुक्त रखें और रंचमात्र भी विकार आनेपर मनकी विकृति छिपायें नहीं। कारण छिपानेसे कुण्ठा और कुण्ठासे तनाव पैदा होता है। तनाव ही दिलकी बीमारीका पहला सशक्त कारण है। आज ऐसी विचारधाराके प्रचार एवं प्रसारकी अत्यन्त आवश्यकता है। हमारे सन्तुलित स्वास्थ्यका रहस्य हमारा सन्तुलित मन ही है।

मानसिक व शारीरिक प्रक्रियाओंको अलग-अलग मानना भूल है। जैसे हाथ व पांव शरीरके अभिन्न अंग है, उसी तरह दिमाग भी बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। काफी हदतक शारीरिक व्याधियाँ दिमागको प्रभावित करती हैं और मानसिक विकार भी शारीरिक दोषके रूपमें प्रकट होते हैं। जैसे खुशीमें दिलकी धड़कन बढ़ जाती है, परेशान हों तो पसीना आता है, उत्तेजित हों तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। डरे हुए व्यक्तिकी धड़कन बढ़नेके साथ उसका मुँह भी सूख जाता है तथा पेशाबकी शिकायत हो जाती है। इसी तरह जैसे बदहजमी होनेपर कुछ भी करनेको दिल नहीं करता। दर्दसे आप हम चिड़चिड़े हो जाते हैं आदि आदि। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि हम हर बीमारीको समझने व उपचार करनेसे पहले इन दोनों पहलुओंको ध्यानमें रखें।

बहुत-सी ऐसी बीमारियाँ हैं, जिनमें दिमागी हालतका कोई असर नहीं पड़ता। जैसे फोड़ा हो जाना, एपेंडिक्स व अन्य संक्रामक रोग। परन्तु काफी रोग ऐसे होते हैं, जिनके विकास तथा उपचारमें रोगीकी मानसिक स्थिति काफी हद तक अपना प्रभाव डालती है। जैसे दमा, पेप्टिक अल्सर, आन्त्रशोथ, रक्तचापका बढ़ जाना, कुछ चर्म रोग आदि। इसलिए सिर्फ रोगका इलाज करनेकी बजाय अगर रोगीका इलाज किया जाये, तो फायदा अधिक होता है।

बीमारीका मानसिक व्यक्तित्व

ऐसा समझा जाता है कि कुछ प्राकृतिक व पुश्तैनी कारणोंसे कुछ तन्तु पैदाइशी कमजोर होते हैं और यही तन्तु मानसिक तनाव बढ़नेपर रोगग्रस्त हो जाते हैं।

हर व्यक्तिका मानसिक सन्तुलन अलग-अलग होता है। कुछ व्यक्ति साधारण-सा दबाव भी बर्दाश्त नहीं कर पाते और कुछ असाधारण रूपसे इन उतार-चढ़ावोंको सहन कर जाते हैं। इससे एक तरहका विशेष व्यक्तित्व पैदा हो जाता है और ये लोग उन रोगोंके शिकार ज्यादा व जल्दी होते हैं। जैसे पैप्टिक अल्सर-वालोंका व्यक्तित्व कोरोनरी धमनी रोग जैसे दिलके दौरेवाले मरीजोंके व्यक्तित्वसे भिन्न होता है।

आधेसे भी अधिक त्वचा रोगोंके पीछे मानसिक स्थितिका स्पष्ट प्रभाव देखा गया है। भावनाओंके हेर-फेर चमड़ीके माध्यमसे बखूबी दिखाई पड़ते हैं। जैसे डरमें पीला पड़ना, भावुक होनेपर ललाई आना, गुस्सेमें पसीना आना आदि। ये सभी लक्षण अस्थायी होते हैं, मगर जब मानसिक अशान्ति ज्यादा व बार-बार होती है तो ये ही बीमारीका रूप धारण कर लेते हैं।

कई लोगोंको जरूरतसे ज्यादा खुजली होती है, जिसका कोई ठोस कारण नजर नहीं आता। कइयोंमें, चमड़ीमें सुबहके वक्त विकार नजर आते हैं, जो रातमें ज्यादा खुजलानेकी वजहसे हो जाते हैं। यह बीमारी कभी कम व कभी ज्यादा हो जाती है व दिनमें ऐसा कई बार होता है। कइयोंमें एक खास समयपर ही लक्षण पैदा होते हैं। दवाई बदलनेसे या जगह बदलनेसे कइयोंकी बीमारी ठीक हो जाती है। इस तरहके अस्थिर लक्षणोंवाले त्वचा रोगोंमें मानसिक स्थितिको काफी महत्त्व दिया गया है। इन सबके आधारपर रोगोंकी मानसिक अवस्थाकी तहतक जानेपर रोगके निदान व समाधानमें बड़ा योग मिलता है।

कई गृहणियोंको सफाईकी सनक होती है। वे दिनमें बार-बार साबुनसे हाथ धोते रहनेकी वजहसे साबुन-चर्मरोगका शिकार हो जाती है। इसी तरह डामेन्टाइटिस आर्टीफैक्टा मानसिक विकारके कारण होते हैं, जिसमें ज्यादा खुजलानेसे दाने-से हो जाते हैं। अगर इसमें प्रभावित अंगोंको ढक दिया जाये, तो वे ठीक हो जाते हैं। इसी तरहसे बच्चोंमें ट्राइको-टिलोमोनिया, लाइकेन सिंप्लेक्स, पॉंफोलिक्स, यू मुलर एक्जिमा आदिमें मानसिक अशान्तिका हाथ रहता है। पसीना ज्यादा आना, खुजली, सोरि-एसिस आदि इसके उदाहरण हैं।

दमा यों तो श्वास नलियोंको सिकुड़नेसे हो जाता है और उसमें साँस लेनेमें तकलीफ होती है, मगर इसमें भी दिमागी हालतका गहरा असर पड़ता है। यह रोग पैतृक होता है। प्रयोगशालामें रोगीके बारेमें जाँच करनेसे पता चलता है कि कई रोगियोंमें बीमारी तो कम होती है,

पर लक्षण कई गुना ज्यादा होते हैं। इसी तरह कइयोंमें गम्भीर अवस्था होनेपर भी लक्षण बहुत कम प्रकट होते हैं। जिनमें ज्यादा लक्षण दिखते हैं, उनमें उनकी मानसिक स्थितिका काफी प्रभाव रहता है, जैसे बच्चे स्कूलसे छुट्टी लेनेके लिए ऐसा करते हैं या फिर लोगोंका ध्यान आकर्षित व सहानुभूति अर्जित करनेके लिए ऐसा करते हैं।

कुछ रोगी ऐसे भी होते हैं, जो दमाकी परवाह न करते हुए बहुत कम लक्षण प्रकट करते हैं। ऐसी अवस्था खतरनाक साबित हो सकती है। इन लोगोंकी बातोंको ठीक न मानते हुए इनका पूरा इलाज करना चाहिए।

इसी तरह दिलके दौरेमें भी मानसिक स्थितिका स्पष्ट प्रभाव देखा गया है। एक खास तरहके व्यक्तित्व-वाले लोग जो कि बहुत महत्त्वाकांक्षी होते हैं तथा जिनमें हर क्षण कुछ करने व आगे बढ़नेकी लगन होती है, इस बीमारीके ज्यादा शिकार होते हैं। ये लोग जरूरतसे ज्यादा जिम्मेदारियाँ सम्भाले रहते हैं, जोरसे बोलनेके आदी होते हैं। गुस्सा भी ज्यादा करते हैं तथा तेज रफ्तारवाली जिन्दगी बसर करते हैं। गम्भीर व आकस्मिक आघातोंसे प्रायः दिलका दौरा पड़ता है।

जब भी कोई गुस्सेमें होता है, तो उसका रक्तचाप बढ़ जाता है। लड़ाईके समय सैनिकोंमें रक्तचाप बढ़ जाना एक स्वाभाविक बात है। जब लड़ाई बन्द हो जाती है, तो इनका रक्तचाप सामान्य हो जाता है। शान्त, सुरक्षित व सुरम्य वातावरणमें रहने-वाले लोगोंको यह बीमारी ज्यादा नहीं होती। जिन लोगोंमें बार-बार या बहुत समयतक मानसिक उथल-पुथल रहती है, उनकी धमनियोंमें स्थायी विकार हो जाते हैं, जिससे कि रक्तचाप बढ़ जाता है, भावनाओं तथा रक्तचापमें एक गहरा तथा पेचीदा सम्बन्ध है।

कमजोरी, थकान, सिरदर्द आदि ऐसे सामान्य लक्षण हैं, जिनका हर व्यक्ति कभी-न-कभी शिकार होता ही है। इनकी जड़में भी दिमागी हालतका काफी प्रभाव देखा गया है।

पेप्टिक अल्सरके रोगीका मानसिक स्थितिसे गहरा सम्बन्ध होता है। इसमें भी अमाशय अल्सरपर दिमागी हालतका ज्यादा असर पड़ता है। कई बार असाधारण मानसिक तनावसे मरनेवाले लोगोंकी शव-परीक्षा (पोस्ट-मार्टम)में अमाशयमें अनगिनत छोटे-छोटे घाव पाये गये हैं। ये स्पष्टतया मानसिक कारणोंसे होते हैं। अनुसन्धान-कर्ताओंने यह सिद्ध कर दिया है कि आमाशय हमारे दिमागमें होनेवाली प्रक्रियाओंका प्रतिबिम्ब है। जैसे गुस्सेमें आमाशयका रक्त प्रवाह बढ़ जाता है तथा भयमें कम हो जाता है, आदि।

जिस तरह दिलके दौरेका एक खास व्यक्तित्व है, उसी तरह इस

बीमारीको भी हम एक खास किस्मके लोगोंमें ही ज्यादा पाते हैं। जो लोग भावुक होते हैं, गुस्सैल व चिड़चिड़े होते हैं और जो स्वयंको वातावरणके अनुकूल बनानेमें असमर्थ होते हैं, अपने अन्दर दबाव महसूस करते हैं, उन्हें यह बीमारी ज्यादा होती है।

यह सच है कि इस बीमारीमें शल्य-चिकित्साका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, मगर कभी-कभी आपरेशनके बाद भी लक्षण बरकरार रहते हैं। इसका कारण दिमागी परेशानियाँ होती हैं, जिनके ठीक होनेसे ये लक्षण भी अधिकांश गायब हो जाते हैं।

उत्तेजना और दौरे

दिमागका पाचन-क्रियासे उत्पन्न होनेवाले विकारोंसे अटूट सम्बन्ध है। बच्चेको अगर ठीक ढंगसे व ठीक समय-पर दूध न मिले, तो माँसे उसके सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। एनोरैक्सिया, नवोसा, जिसमें भूख बिलकुल कम लगती है, माहवारी बन्द हो जाती है तथा वजन कम हो जाता है, स्पष्टतया दिमागी हालतसे सम्बन्धित है। मोटापा, जो कि सम्पन्न समाजका एक अंग बन चुका है, एक मानसिक अभिशाप है। हँसमुख, चिन्तामुक्त व शान्त व्यक्ति ज्यादातर मोटे होते हैं, खाना ज्यादा खानेके साथ-साथ ये सब बातें भी मोटापा बढ़ानेमें सहायक होती हैं। कुछ मानसिक परिस्थितियोंमें कुछ व्यक्ति अधिक खाते हैं। इसके अलावा स्वाद, रुचि आदि भी ज्यादा खानेको प्रोत्साहन देते हैं।

कमरके दर्द, गठिया आदिमें भी मानसिक स्थिति काफी हदतक जिम्मेदार है। मिरगीका दौरा एक दिमागी बीमारी है, इसलिए इसमें मानसिक कारणोंका प्रभाव स्वाभाविक है। कई बार सहानुभूति प्राप्त करनेके लिए या अपनी ओर ध्यान आकर्षित करनेके लिए या किसी अवाञ्छनीय परिस्थिति-से बचनेके लिए यह बीमारी स्वतः ही पैदा हो जाती है। कई तरहकी उत्तेजनाओंसे खास किस्मके दौरे पड़ते हैं। जैसे रोशनीसे होनेवाली मिरगीमें टेलीवीजनका काफी हाथ है। इससे बच्चोंमें यह दौरा पड़ता है। इस तरहके दौरोंमें खाली दवाइयोंसे काम नहीं चलता। ऐसेमें मानसिक स्थितिको सुधारना अति आवश्यक है। कई लोगोंको संगीत सुननेसे दौरा पड़ जाता है। भावनाओंका उतार-चढ़ाव, थकावट, मूडका बदलना, दिमागी काम आदि मानसिक स्थितियाँ हैं, जिनसे दौड़ा पड़ सकता है।

इस तरह यह एक बहुत उचित बात होगी, अगर हम रोगमें उपचारके साथ-साथ रोगीकी मानसिक स्थितिका भी अध्ययन करें और उसे सन्तुलित रखनेका प्रयास करें। इससे रोगीको ठीक होनेमें सहायता मिलेगी। अगर इसका ख्याल न रखा जाये, तो कई बार रोगका इलाज होनेपर भी मरीज स्वस्थ अनुभव नहीं करता।

●

भजन भोजनके लिए-
भोजन भोजनके लिए

काशीप्रसाद साहू

कृष्ण नाम भजो रे मन,
तेरी बिगरी बात बन जाई···

एक कृशकाय जराजीर्ण मराठी वृद्धा माता गाती हुई मेरे दरवाजेपर आयी। मैंने थोड़ा आटा दिया। मैंने पूछा 'माँजी कहाँकी रहनेवाली हैं'। उसने आशीर्वचन कहे और बैठ गयी। उच्छ्वास भरते हुए बोली, 'बेटा रामटेककी रहनेवाली हूँ।'

'माँजी, भगवान् रामका आश्रय छोड़कर यहाँ-वहाँ कहाँ घूमती फिरती हो?'

'मेरे आगे-पीछे कोई नहीं है, सभीने साथ छोड़ ही दिया है, अब यह काया भी धीरे-धीरे साथ छोड़ रही है।'

'इसीलिए माँजी अब तो आप अपने स्थानपर लौट जाओ।'

'भला बेटा, मेरे साथी होते हुए भी नहींके समान हैं'—आँसू छलछला आये—कुछ सम्हलकर, 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई, जो वहाँ है-सो यहाँ हैं। तुम्हीं तो मेरे कृष्ण, राम, शिव, विट्ठल, पाण्डुरङ्ग हो चार हाथ लग जावेंगे—काया ही तो ठिकाने लगाना है'।

'माँजी, रामटेक लौट जायें, मेरा अनुरोध है।'

'बेटा कलिकालमें, गौ, ब्राह्मण यदि दरवाजे-दरवाजे न पहुँचे तो, घर बैठे उनको कुछ मिले ऐसो अपेक्षा नहीं है, मैं तो आगयी तो कुछ मिल गया।'

'इसका मतलब तो यही है कि आपको इस कायासे मोह है।'

'नहीं, नहीं बेटा, मुझे तो भजनका मोह है, तुम समझे नहीं; अन्त राम कहि आवत नाहीं—यह रसनाका सद् उपयोग है—इस चटोरीको टुकड़ा डाल दो और इससे भगवान्का भजन कराओ—भूखे भजन न होंहि गुपाला—समझे, इसलिए याद रखो' 'भजन-भोजनके लिए, भोजन-भोजनके लिए'—

कृष्ण नाम भजो रे मन,
तेरी बिगरी बात बन जाई।

●

मानसिक भटकनका एक नया नाम

न्यूट्रान बम

श्री फरहत कमर एम. ए.

३०५-बटला हाउस, नयी दिल्ली-११००२५

●

दूसरे महायुद्धमें हुए हीरोशिमा और नागासाकी (जापान)के विनाशको कौन भूल सकता है—देखते ही देखते लाखों व्यक्ति झुलसकर मृत्युकी गोदमें पड़ गये थे। अपार सम्पत्ति नष्ट हो गयी थी और रेडियोधर्मी धूलिके कण दसियों वर्ष पश्चात् तक वनस्पति तथा अन्य जीवनको दूषित करते रहे थे।

यह सब अणुबमकी विनाशकारी शक्तिका परिणाम था।

अणु इतना छोटा होता है कि एक आलपिनकी घुण्डीमें ढाई लाख अणु होते हैं परन्तु इस छोटी-सी वस्तुके अन्दर महान् शक्ति निहित होती है। यदि यूरोनियम धातुके एक सन्तरेके बराबर टुकड़ेके अणुओंको एक साथ तोड़ा जाये तो इसमें-से बीस टन बारूदके फटनेके बराबर शक्ति उत्पन्न होगी जो ढाई सौ मीलके घेरेमें हर प्रकारके जीवनको समाप्त कर देगी।

अणु बममें परीक्षणोंको रहस्य रखना असम्भव है, इसलिए विनाश-कारी दिमागोंने अबसे कोई तीस वर्ष पूर्व मृत्युके कारोबारको चुपचाप चलानेके उद्देश्यसे रासायनिक बम बनानेकी विधि अपनायी। भिन्न-भिन्न प्रकारके गैस, विष तथा बीमारीके कीटाणुओंको बमोंमें भरकर शत्रुके देशमें मानसिक तथा शारीरिक विनाश फैलाना इस विधिका उद्देश्य था। इंग्लैंडमें 'रासायनिक युद्ध'के साधन तैयार करनेके लिए विल्टशायरके पार्टेंडाउन केन्द्रकी बड़ी महत्ता है। इस संस्थाके अध्यक्ष डा० गार्डनके शब्दोंमें—

'इस संस्थाकी स्थापनाका उद्देश्य दूसरे देशोंमें होनेवाली रासायनिक तैयारियोंका अन्दाजा लगाना, विश्ले-

षण करना तथा इंग्लैंडको रक्षात्मक दृष्टिसे सबल करना था।'

रक्षा तथा सुरक्षाके नामपर संसारके अन्य देशोंमें भी मृत्युके भयंकर बादल फैलानेके साधन बनाये गये और बनाये जा रहे हैं। अमरीकामे इस प्रकारके छः केन्द्र हैं। रूसकी बातें साधारणतः पर्देमें रहती हैं परन्तु मास्को इन्स्टीटयूटके अध्यक्ष आदम मकोविचके कथनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि विश्वव्यापी विनाशके साधन बनानेमें रूस भी अमरीकासे पीछे नहीं है—

'विश्वमें जितना विनाश आजतक युद्ध, रोग तथा अकालसे हुआ है, रासायनिक युद्धसे होनेवाला विनाश उससे अधिक ही होगा।'

प्राचीन युगमें शत्रुके देशमें भिन्न-भिन्न तरीकोंसे विष फैलाना, विषैले बाण चलाना, विष कन्याओंसे काम लेना, शत्रुके किलोंमें प्लेगसे मरे व्यक्तियोंके शव फेंकना आदि भी एक प्रकारसे रासायनिक युद्धके रूप थे। सत्रहवीं शताब्दीमें अमेरिकामें जाकर बसनेवाले योरोपीय व्यक्तियोंने, रैडइण्डियनोंसे बदला लेनेके लिए उनमें रोगके कीटाणु-भरे कम्बल बाँटे थे। उन्नीसवीं शताब्दीमें अंग्रेजोंने चीनवासियोंको अफीमका आदी बनाकर उनको निकम्मा करनेके लिए 'अफीम युद्ध' (Opium war) चलाया था परन्तु यह सब कुछ बहुत छोटे पैमानेपर था। इससे होनेवाली हानि अधिक नहीं होती थी। आज आधुनिक विज्ञानने विनाशके क्षेत्रमें बहुत 'उन्नति' कर ली है—आज इस सुन्दर संसारको घंटोंके अन्दर कई बार नष्ट किया जा सकता है। आज मानव 'बुद्धि'ने ऐसे तरीके खोज लिये हैं जिनसे अन्न तथा फलोंमें ऐसे रोग फैलाये जा सकते हैं जो खानेवाले व्यक्तियोंका मार सकते हैं। आज भिन्न-भिन्न प्रकारकी गैसें फैलाकर प्राणियोंको माँसपेशियोंको शिथिल किया जा सकता है, उनको अपङ्ग बनाया जा सकता है तथा उनके दिमागोंमें हीनता, दासता तथा निराशाकी भावनाएँ उत्पन्न की जा सकती हैं। कई देशोंकी प्रयोग-शालाओंमें भयङ्कर गैसें बना रहे हैं और घातक कीटाणु 'पाल' रहे हैं। आजकी 'मानसिक उन्नति'ने ऐसे साधन बना लिये हैं कि 'क्यू फीवर' या 'मौटोलीनस' कीटाणुओंसे भरे बमोंका विस्फोट करके किसी बड़े-से-बड़े देशकी समस्त जनसंख्याको घंटोंके अन्दर पूर्णरूपसे नष्ट किया जा सकता है।

रासायनिक बमोंके बाद 'उन्नति'के मैदानमें वैज्ञानिकोंने एक और कदम बढ़ाया—यह था हाईड्रोजन बमका आविष्कार। हाईड्रोजन बममें हाईड्रोजन गैसको हीलियम (Helium)में परिवर्तित करके ऊर्जा

उत्पन्न की जाती है और हाईड्रोजन-बम, अणु बमसे सातगुना शक्तिशाली होता है।

विनाशकारी प्रवृत्ति रखनेवालोंकी सन्तुष्टि भयङ्कर हाईड्रोजन बमसे भी नहीं हुई तो उन्होंने विश्वको एक और 'भेंट' प्रस्तुत की और यह था न्यूट्रान बम! न्यूट्रान बमका आधार हैं न्यूट्रान जो यों तो अणुका ही भाग होते हैं परन्तु इनका कार्य करनेका नियम अणुसे भिन्न होता है। अणुका विस्फोट होता है तो ऊर्जा और ऊष्मा उत्पन्न होती है परन्तु न्यूट्रान (Fusion) उत्पन्न करते हैं। न्यूट्रान बमके फटनेसे न्यूट्रान वायु-मण्डलमें फैलकर चुपचाप जीवनको समाप्त कर देते हैं। इस बमके प्रभावसे प्राणियोंकी मृत्यु तो काफी तेज गतिसे होती है परन्तु सम्पत्तिका विनाश नहीं होता (अणुबमका विस्फोट मकानों आदिको लावेकी भाँति पिघला देता है) न्यूट्रान बम केवल जीवनको समाप्त करता है। इसीलिए अमेरिका द्वारा बनाये गये न्यूट्रान बमको रूसने 'पूंजीवादी बम'का नाम दिया है।

न्यूट्रान बमसे होनेवाला विनाश हाईड्रोजन बमके विनाशसे बहुत अधिक होता है परन्तु क्या मानसिक भटकन न्यूट्रानपर ही रुक जायेगी। इसका उत्तर है 'नहीं'। शीघ्र ही कोई देश न्यूट्रान बमसे भी अधिक शक्तिशाली बम बना लेगा और उसपर गर्व करेगा। यह तो एक दौड़ है जिसमें एक देश दूसरेसे आगे निकल जाना चाहता है। हर वह देश जिसके पास धन है, इस दौड़में शामिल है। यूँ तो अब संसारको अधिक बमोंकी आवश्यकता नहीं है (जितना घातक सामान बन चुका है उससे ही यह दुनिया ५० बार नष्ट हो सकती है) परन्तु हर देश यह चाहता है कि उसके पास अधिक-से-अधिक विनाशके साधन हों।

विनाशके मैदानमें यह बर्बरता पूर्ण होड़ क्यों है?

इस पागलपनका परिणाम क्या होगा?

यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर सभीको ज्ञात होता है। फिर भी मृत्युके भयंकर साधन बनानेका सिल-सिला रुक नहीं पा रहा है। बड़े-बड़े लोग बड़ी-बड़ी गोष्ठियोंमें बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, नैतिकताके मूल्योंकी चर्चा करते हैं परन्तु अपने-अपने देशमें मृत्युका कारोबार जारी रखते हैं। कोई इसको 'शक्ति-संतुलन'का नाम देता है, कोई इसे 'रक्षात्मक आव-श्यकता बताता है। किसीका कहना है कि दूसरे देशोंपर मनोवैज्ञानिक ढंगसे युद्ध न करनेके लिए वे यह घातक साधन 'भय'का काम करते हैं तो कोई इस अमानवीय क्रियापर नैतिकता तथा मानवताका सुन्दर पर्दा

डालकर यह दावा करता है कि यह सब 'अनुसन्धान' है और इसका उद्देश्य है विज्ञानका शान्तिपूर्ण प्रयोग तथा मानवताकी सेवा। मन किसीका भी साफ नहीं, इसलिए शान्तिपूर्ण कार्योंसे अधिक युद्धका खतरा पैदा हो चुका है और स्थिति यह है कि यदि गलतीसे भी घातक हथियारोंके कन्ट्रोलका मामला बिगड़ जाये तो समस्त संसारमें प्रलय आजाये।

अब एक मौलिक प्रश्न यह है कि लोग ये विनाशकारी साधन क्यों बनाते हैं, क्यों एक दूसरेको अपनी शक्तिसे डराना चाहते हैं ?

इस प्रश्नका उत्तर है एक अंग्रेजी वाक्यका अनुवाद—'युद्ध और रोग मनमें आरम्भ होता है।' वास्तवमें मानव-मन दूषित हो चुका है, बुद्धि भटक चुकी है। अपनेको दूसरोंसे अच्छा समझनेकी भावना, दूसरोंपर आधिपत्य जमानेकी प्रेरणा देती है और क्रोध तथा प्रतिशोध दूसरोंको नष्ट करनेका मार्ग दिखाते हैं। मानव बुद्धि नये-नये हिंसात्मक मार्ग दिखाकर मानवको भयानक-से-भयानक जानवरसे भी ज्यादा भयानक बना चुकी है। इसको हम मानव मस्तिष्ककी 'चतुराई' तो अवश्य कह सकते हैं परन्तु इसको 'बुद्धि' नहीं कहा जा सकता। बुद्धि तो सीधा मार्ग दिखाती है और विवेकपर आधारित होती है और विवेक प्रदान करनेका एकमात्र साधन धर्म ही है। धर्म ही एक ऐसी शक्ति है जो मानव मनको स्वच्छता प्रदान करके घृणा, क्रोध, प्रतिशोध आदि जैसी घातक भावनाओंसे मुक्ति दिलाता है।

●

तुलसीका मानस

कलिके कठोर आतपों से बचने को और,
ऋद्धि-सिद्धि के लिये अमोघ मणिमाला है।
रूप-रस-प्रेमियों के लिए तो सदैव मंजु-
माधुरी प्रमोद बिन दाम रसशाला है॥
राम जानकीके चारु चरित प्रभूत भाव-
चित्र देखनेकी ये विचित्र चित्रशाला है।
तीनों लोक तिहुं काल तोषक अपार धन्य,
'मधुरेश' 'तुलसीका मानस' निराला है॥

—भानुदत्त शास्त्री 'मधुरेश'

Do Self Scrutiny

By Ananta-Shri Swami Akhandanandji Saraswati Maharaj

Do we want fulfilment of desires or their eradication? Answer to this question separates the seeker of Supreme Truth from those following mundane life. If you are able to see clearly that you want to become happy by satisfying desires, then they will compel you to roam in the unknown darkness of transmigration or mundene life. There is no end to things and sense objects by obtaining which we want to be happy. One after another and third after the second, this order can never end. This is mundane life of birth and rebirth in which there is no scope of escape or liberation. But if we are way-farers of Supreme Truth, then we shall elearly resolve that bliss is in the eradication of desires only and in it there is no dependance, compulsion or roaming of any sort. In acceptance is dependance in renunciation is freedom. In freedom alone is bliss, dependance is misery only. Therefore, way of peace is eradication of desires & not in fulfilment. If we permit our mind to go according to its pleasures, act or obtain or speak as it likes then it will fall in the ditch of dependance and drown us also. It is mind alone to make us unhappy and none else. Hence, every moment we should examine, observe and discern the movement of our mind.

What is mind? If you see in truth then it is not anything else than knowladge. How ever, old impressions, knowledge of the world and next world, distinction of good and evil and the greatest of all ignorance of ultimate truth does not permit the mind to be in its pure state of knowledge. Some things are given great importance and some

things are considered insignificant. These preconceptions depend upon country, environment, society, study, company, family, occupation, etc. and become extremely firm in the mind. These accidental tendencies become all-powerful and mind's own pure, self-attained true nature is suppressed. If these extraneous tendencies are separated, even if once in imagination, from awareness then mind's true own nature is effortlessly understood. Coverings of tendencies alone manifest mind as awareness cluttered with desires. First mind determines a thing as good or evil. Then the thought of acceptance and rejection is formulated. If rejectable is accepted and acceptable is rejected, then mind becomes exhausted. But has this mind cluttered with impression the power to remove this depression ? Certainly with such a mind we can never find an end of our journey. Only by clear discernment of all our specific desirous mentations alone can we realise the separate true nature of mind or awareness.

Wherein is the conflict in life ? Objects attract perception towards itself. Knower wants perception to be under its control. This is the dispute. This is the back-ground of the entire conflict. Here one thing is forgotten that knowledge invests its own bliss in the object and becomes attracted towards it. The beauty of obfects is only a creation of knowledge. It creates its own basic 'I' & becomes dependant upon it. Dependant knowledge leaves truth on the basis and establishes in the objects, where it can never be steady in its own nature & this dull matter & dependant mind can never be productive of bliss & peace. This is the reason why seekers of bliss and peace should keep an alert watch on the purity of mind. Objects cover awareness or

tendency-ridden knower (mind) is managing the affairs. Awareness free from both these condition is able tn enlighten its own pure nature.

Why do we become unhappy ? For this reason that we consider outside things of great importance. There is some thing which remains unobtained which can make us miserable. Evidently, that thing is greater in value & importance than ours. It is completely contrary to experience that some other thing should be evaluated more in importance than ourself. It is by our Self that all things are established, through us that they are known & it is through identification with us only that they become bliss. It is only lack of thinking to consider powre of the Self to be meaner than the object powre. Cause of our misery is this that we do not recognise ourd aboluteness. We attribute powre & importance in other thing. We become eager to obtain it. We understand ourselves to be pitiable & low without obtaining it. On obtaining it we beeome proud of our greatness. We ourselves have invested our happiness and misery in other things, individuals, actions, enjoyments, conditions and disturbed ourselves & fallen in the state of miserables. Good heavens: that which is known & which can bestow happiness is testified by me alone, whose existence or otherwise is only my seen department. What bilss or pain can thay ever give me ? Place, situation or favourable-unfavourable, acceptance-rejection of things should become for us a scene, show only, as if our apparition has come & gone. No scene in a cinema is ever constant. This is only a skill of showing, delusion of eyes that steadiness is apparently seen. This error of considering inconstant as permanent, the delusion of keeping it for a longer time

which takes place in the mind, become sorrow. Inconstant will remain as inconstant. When it appears as unified, then also it is inconstant & when it appears as mznifold, then also it is similar. It is not happiness nor sorrow. It is a magical show, only an apparition. Only when we procure happiness-misery by their coming-going, then only such delusion is produced. Therefore, change is not to be done in the appearances but only in our own mind. This is the philosophy of the seeker. One who wants to effect change in the seen is one impossible project fcr execution, becaunse outside change is in the hands of God or nature & not in the hands of a seeker. Effort to change the seen or prayer also is totally valueless, effort is insignificant & prayer is to effect deviation in the rule created by God. Without accepting the condition of the seen as it is, no seeker can become introspective. In inwardness alone is the inner rontrollec perceived. Together whith it every percept appears as the dramatic expression of the inner controller. Perfect absorption (silence) and disturbance are two forms of inner controller only and that witness consciousness is being shown his sportive dalliance miracls, sleight of hand or phenomenon. When the seeker takes intense joy in the sport of the inner controller, then he becomes a devotee and when he becomes neutral or immutable and sees then he becomes the witness seer. When this seer recognises himself to be not only a mere seer but the basic ground, then it experiences as non-dual Brahman (Universal Eternal Consciousness). Independanee and happiness of the seen is the mother (cause) of misery. Let the seen be constant or inconstant it can never lead to attachment. The delusion of its happiness is the cause of misery. Seen is neither the

effiicient or material or cause nor the basis of happiness-misery. Only stark delusion. Seen is considered to be the chain of cause and effect of happiness-misery and it is because of this belief that we cease to try to purify the mind and engage in purifying the seen, This for the seeker is roaming in wilderness and unsurpassable forest of misery.

To find the limit of this Ocean of misery or to fathom its depth is extremely difficult. But break the attachment with this seen. Give up the thought of changing it. Let it remain as it is. Turn the vision of mind in wards and unite yourself with the supreme Self. So long as you turn yourself away from the Supreme Being as long this ocean of transmigrating misery is formidable, the moment you unite with the Supreme Self or you establish in it, it will remain only an a fairy city in icy mountain as a fantasmagoria. In the icy mountain appear a city, palace, temple, flag, etc. but in whose light do they all flower with splendour? Where from does shinning splendour arise? Certainly from that world-shinning Sun-God do they get enlightened. Exactly similarly whatever grandeur and splendour is there in the seen is only an apparition in Self-Consciousness. Neither is there misery nor happiness, nor attachment nor infatuation. Whatever is, there is countless grand network rays of Self-Consciousness. Only an error of distinction of beginning, stay or deluge and in appearance or deception of reality. Nothing is to be given up nor anything destroyed. To recognise clearly its own true nature of this is required. To know is our own nature. Whatever polarities are there, lifedeath, like-dislike, happiness-sorrow, alien-unalien, hell heaven, silence-disturbance all have their root only as our partite delusion To accept ourself as partite in the intellect

gives birth to egoity. Only with ego-consciousness is the other reckoned, not from truth stand-point. By combining this ghost only with ourself do we cry. Engrossed by the delusion of preserving the present and creates for the future fright. Creator of all misfortunes is only the ego-sense.

Where is the necessity of desiring a thing if that thing is not unobtained and ever obtained ? Certainly if there is anything unobtained, then it is the delusion of partiteness. If you are not Partite, then where can anything leave you and go ? For holding it to preserve is only an erroneous delusion. If you are not partite, then why are afraid of destruction of anything ? Why get angry with the destroyer ? Why hanker after obtaining unobtained & why crave for the growth and prosperity of the obtained ? All the favourable & unfavourable, independance-dependance or happiness-misery whatever causes be there, all of them are nourished in the bosom of our error of partiteness. Certainly when our sharp discerning eyes fall on ths partiteness then it will be found to be false, unthinking & non-existing basis of our misery. Not seeing onr true Self and getting devoured by fanciful seen is only misery and to discard it is alone the path of happiness. Pay attention, please enter within our subtlest inner region. Leave off the instinctive clinging to life and bodily enjoyment and hatred. Give up passion. Throw away indiscriminating root of egotism. Your unassociated Atman alone is the indestructible dramatic stage of space, time and substance (causality). Same is such ground in which the entire seen is only imagined or superimposed.

The moment this point of view comes within the life, one wonderful supernatural miracle happen that the life becomes self-enlightened. Concept of poverty and inferiority

flies away, desires become weakened. None of the seen objects remain essential or indispensable. So much so that even the expectation for the body disappears whether it lives or not. Expectanceless life is the extra-ordinary bliss of the liberated living. It is just true that one who is engaged in fulfilling mundane, other worldly or supernatural desires can never be happy and peaceful. Due to the ignorance of his own true nature, deception of embodiedness, he is overcome with fatigue and exhaustion. Since desires come one after another incessantly in the form steady flow. They should never be, welcomed. They shonld be driven out and be purified. Do not prevent tneir coming, since they are known only after their arrival. It cannot be first known as to what desire will come and when. Do not fight with them on coming. Desire and their rejection-effort are just two forms of mentations only. When our mind starts disputing with ourself then on defeat, it becomes exhausted and dejected or on success joyful and elevated. Doership becomes still firm. Therefore, there is need to change the out-look towards desires only. It cannot be develved on neccessity, nor can it be placed on the basis of providence. It is extremely essential to change our-out-look towards them after knowing our own true self through discrimination. This discrimination alone counters the attraction of the seen and awakens knowledge of our own true nature. Awakened out-look or waking discrimination alone is the best path of desire-eradication, Nothing untowards happens on this path. We return to our ground-home, the supreme beatitude. Then activity and cessation both become useless until they become useless till then through discrimination, establishing ourself in the inmost of inmost we must go on perceiving the worthlessness of the seen.

●

Lord Krishna : His Contribution to Indian Culture

Dr. J. L. SHARMA, M.A., Ph.D.
Head of Deptt of Sanskrd
Vidya—Niketan, PILANI (Rajasthan)

Lord Krishna is regarded as the supreme master one of the epochmaker saints, seers and heroes of this country. His deeds on the sociopolitical platform, his interpretations of religion and philosophy, his genius and personality have left an everlasting and deep impact on the culture of india. Krishna was a great statesman.

For most of the Hindus, he was an Avatara the Lord incarnate. It is said that whenever the traditions become static and philosophies fall under the cobweb of irrational fanaticism and dogmas, and life deviates from the continuum of vital organism, there appears a soul at this juncture of decay and death to inject new life and force in it. We call him an Avatara. Thus through a cultural perspective there is something new and unique in Avatara. Swami Ranganathananda writes 'One important feature of the Avatara concept is the one that is most significant from the point of view of cultural history and the quality of dynamism associated with the term. The Avatara, unlike a saint, is not a static guide like a light-house; he is in the words of Shri Ramakrishna, a large-sized ship capable of carrying thousands of people across the water of life....and a dynamo from which emanates man-making and nation-making forces'.

Before dealing with the contribution of Lord Krishna, it be-comes necessary to look into the back-ground of his contemporary traditions also. Religion had played a very dominant role in the evolution of culture and civilisation, and specially in India where it has been running through the whole gamut of life. Every institution social or political, economic or educational, fall into the realm of religion. The Vedas, being the root of the philosophical and religious traditions in India, provided foundation to its cultural edifice. As time passed the discrimination between the high-born and the lowborn, dominance of ritualistic performance of 'Yajnas', and the sacrifice of the innocent animals on the altar, stigmatised the whole tradition, which consequently gave birth to so many heterodox sects. They did not approve of this violence in the name of religion, and embraced the Ignored and outcaste people with their liberal and democratic outlook and attitude.

More over these rituals of 'Yajnas' were meant only for the appeasement of different gods and goddesses in order to get the worldly desires fulfilled through their pleasure, such as getting a son, destruction of one's enemies, cure of diseases, pacification of natural calamities or at the most, attainment of heaven. The whole para-phernalia and the factory-like organisation of the 'Yajnas' dominated by Purohitas, became a dull and meaningless business for the intelligentsia of their time. Hence the awakened ones withdrew themselves from these practices and took resort calmly in the secluded forests in the quest of truth and peace. The mystic and metaphysical thoughts recorded in the Upanisads were the produet of these people only. The butchering of the animals moved their hearts and they were not convinced

with the edict 'Vaidiki himsa himsa na bhavati' (The violence of the Yajna is not really violence), and this too was reserved for the high class only—'Stri-sudra-dvija-bandhunam Trayi na srutigocara'.

Krishna did not renounce life calmly like the seers of Upanisads, but encountered it, not simply by refuting or abandoning the tradition, but by reforming it, interpreting the old dictums afresh and propounding a new system, all without condemning the old dictums. He gave a metaphysical direction to the wandering people in the thirst of spiritual quest, and showed them what was the real happiness and the very goal of human existence. He tells Arjuna in Gita, 'Those who are seduced by the flowery and ornamental language of the so called Punditas, are tempted towards the material pursuits and enjoyment only. They cannot think beyond heaven. Hence they cannot attain that everlasting peace and real happiness, which is not subject to time and space". On the basis of a religion of love and devotion he rejected any discrimination between the high-born and the low-born. For him the greatest of all is a true devotee. He may be a 'chandala' or 'sudra'. The true devotee sees Him in every one and every one in Him. He is the real 'Gyani'.

In order to avoid sacrificial violence, Krishna gave a new and wide interpretation to the word 'Yajna' and showed a new way of worship. It is not the object offered to God that is important, but it is the feeling of love and devotion with which any offer is made to Him. He says in Gita, 'Patram pushpam phalam toyam yo me bhaktya prayachati', (fruits, leaves, water or flower whatever is offered with devotion is dearer to God than any other thing), He

interpreted 'Yajna' as way of worship—but the true one is that in which the worshipper and the worshipped one, both are in communion with each other and finally both merge into One. This way of worship is still prevalent in India and every Hindu can perform his 'Puja' with merely merely Gandham, Pushpam, Dhupam, Dipam, and Naivedyam, or even water. This system of worship has influenced the Jains also. Although there is no place for God in their system of philosophy, yet today they worship Mahavira in their temples the same way as the Hindus do with aksata, water and the same Arati. Worship of trees, rivers and serpents etc. is prevalent among the Hindus today with the worship of Rama, Krishna or Siva. He set an ideal of religious tolerance and democratic outlook before the people by including all these folk deities in the pantheon of this faith. He declares "Sarva-deva-namaskaram Kesavam pratiyachati" i. e. to whatever God you worship or offer your salutation ultimately it reaches to Him only. However he placed the worshippers of all the different gods etc. in three categories namely Satvika, Rajasa and Tamasa.

> **Yajanta satvika devan yakas-raksamsi rajasah.**
> **Pretan bhutagananscanye yajante tamasah janan.**
>
> **—Gita : XVII, 4**

The Satvikas adore the gods, the Rajasas worship the demons and Yaksas, and the Tamasas worship other ghosts and evil spirits etc. This is how he opened the doors of this faith for all discarding none.

The legend of 'Govardhana-dharana', in which Krishna lifts the mount Govardhana to protect the people against the wrath of Indra, the Vedic god of rains, is significant

enough to give us an insight into his daring and dynamic personality. He opposed Indra-yajna and started the worship of mountain Govardhana instead. This was something new, as he included the fruits and different varieties of cooked meal in the offering. People of all castes—high and low, all were allowed to Join the Puja and offerings were distributed among them as Prasada or Bhoga. Thus he brought about certain revolutionary changes preserving the dignity and sanctity of Vedas. Bhakti cult started by him played a very vital and dominant role in the cultural life of India. Hindus, as the inhabitants of this land were later called, still bear all the essential features even today. Devotion and love was the acme of this faith. Although scholars try to prove the seed of devotion in Vedas, but practically it was Yajna-oriented. Tha aga old Vedic tradition would have definitely not survived, and the heterodox sects would have swept it away from the Indian soil, had it not been reconstructed and reformed by Bhakti-cult at the hands of Krishna.

This very philosophy of love, devotion and oneness later guided & inspired all the saints of India like Chaitanya, Tukarama, Jnanadeva and Nanak etc. as they also propogated the same—'Hari ko bhaje so Hari ka hoi'. (One who devotes himself to the Lord becomes one with Him.)

This very significant point was realised by the modern sociopolitical and religious leader and reformers. Vivekananda, Mahatma Gandhi & many others emphasised the uplift & well-being of the down-trodden & lower, castes first as majority of Indians consists of them only. India cannot see better days if they are looked down upon or neglected. A. C. Bhaktivedanta Swami carrird this very

message of love & devotion to the far west countries through his 'Krishna Consciousness Movement'. Which imparted solace to the pining hearts wandering disturbed & bewildered amidst the din and dazzlement of the materialistic world.

His eharacter can be best understood if we see 'Rasalila' through this very light. The romantic & erotic character as he is described, is of quite late origin. In Harivamsa Purana there is mention of one group-dance with the Gopis named 'Hallisaka', which is narrated as 'Rasa' in Bhagavata. Even Radha does not find any mention there. It is an erroneous conjecture on our part to take the erotic description in the worldly sense. It is a very deep spiritual allegory. P. Thomas writes in 'Hindu Religion, Customs & Traditions'. "....Vaishnavism....treated sex-love as the symbol of love between soul & God. The ecstacy experienced by the devout followers of this cult contemplating their favourite personal God Vishnu could not be compared to anything on earth except an ardent lover's feeling when pressing his beloved to his bosom. A similar tendency in Islam gave rise to Sufism. Nor is the idea altogether foreign in Christinity. The Song of Songs of Solomon is pervaded by the same spirit, & bride-groom as the most appropriate symbol of the soul's yearning for the presence of God."

Besides it, our own impulses, urges, & imaginations find expression through such great heroes. That is how Krishna was made the central figure of vivid erotic narration by the mediaeval poets in almost every Indian language. The 'Rasalila' has been a very vital and significant episode in the evolution of Indian classical and folk dances. Krishna is Nataraja, besides Siva, & traditionally he is the exponent

of all dance styles. Hence it may be Bharata Natyam, Odissi, Manipuri or Kuchipudi, Tamasha, Svanga or Rasalila, Kathak or Kathakali, episodes from his life have been the most popular theme Thus the impact of his life has transcended all regional and style-segmentation, integrating the heart of India through the arts into one.

Krishna has been thus described in different forms, styles & spirit. And this is the greatness of the hero. Swami Ranganathananda writes. 'The greatness of any historic hero is a product of lived life & interpretation. The people interpret to themselves their hero, generation after generation, by participating intellectually & emotionally in the life & being of their hero. The personality of the hero seems to expand & grow in stature & dimension in this historic process". Hence the impact of his dynamic personality gave a new form to the Vedic religion the Sanatana Dharma. He made a new epoch out of chaos. A great diplomat of his time, a Yogiraja, an excellent musician to make every one spellbound, master of sixty-four arts, & above all the 'Purna Avatara', he is enshrined in the hearts of Hindus in India & his sprituality has even crossed the barriers of lands & faiths & reached out to people far & wide. The marvel of his life has influenced & enriched the Indian tradition in every form, sculpture & painting, music & literature, rituals & thoughts through centuries & centuries.

●
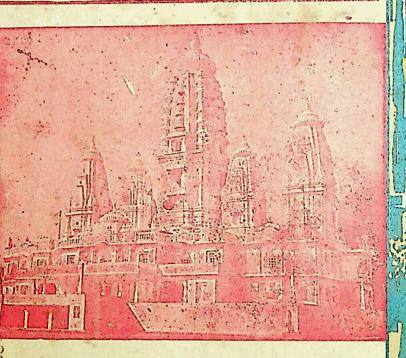
सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बईके लिए विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा आनन्दकानन प्रेस, सीके. ३६/२० वाराणसीसे मुद्रित।